अवलोकन

ज्ञान ने अपनी सीमा नहीं बनने दी और भावना तो पंख खोलकर उड़ने की वस्तु ही है। मनुष्य के मन में जब विचारों की नवसृष्टि होती है, तो तत्काल उनके निष्प्राण हो जाने की सम्भावनाओं को अपनी सीमाओं में अनेक बार निग्रह करके होती है। रेखाओं द्वारा एक बार मूर्त रूप प्राप्त करने पर जो स्वर क्षय नहीं हो सके, वे अक्षर कहलाये। रासायनिक प्रक्रियाओं में रंगों की विविधता को स्थिर बनाने की चेष्टा सफल पीछे हुई, काल के अनन्त आवर्तन में भी अमिट रहने-वाले अनन्त नीलाम्बर में पञ्चतत्वों के दृश्य-चमत्कारों ने मानवात्मा को मोहित पहले कर दिया। सृष्टि ने मनुष्य को दिया कुतूहल, पुलक और आश्चर्य, किन्तु मनुष्य ने हृदयङ्गम करके उसे बना लिया स्वभाव और गति। प्रकृति ने मनुष्य को दी नश्वरता; और मनुष्य ने उसे चिरस्थायी रस, चिर सुरक्षित रूप और वर्णनातीत सौन्दर्य की वस्तु

मानकर उस पर रक्षा का परदा डाल दिया। तब संस्कृति का अ
और उससे संस्कृति के अनुसार ही मनुष्य अपने आप को ल
हुआ आगे बढ़ रहा है।

तो मनुष्य ने बनाया समाज, उसने बनायी संस्कृति
तो अपने को बाँधने में उसने पायी आनन्द, पायी सुविधा। कि
वह अधिकाधिक नियमित होकर नियमन से पीड़ित होने लगा औ
प्रकार नियमित होकर वह अनियमन चाहने लगा। जितना म
नियमित है, उतना ही जीवन का है। उससे परे वह जीवन
नहीं है और जीवन से वह जहाँ ऊपर है, परिस्थितियों से
निस्संग, वहीं वह अन्तर्जगत् का प्राणी है। और कविता उसी अं
गत का गीत है।

मनुष्य का जीवन जैसा बाहर है, भीतर उससे भिन्न है।
ज्ञात-मानस में जो कुछ है, अज्ञात-मानस में उससे अपर। इ
प्रकार जीवन और अंतर्जीवन में सदा से एक विरोध चला आया
। कविता की उत्पत्ति इसी विरोध में है। मानता हूँ, संस्कृति ने मनुष्य
प्रकाश दिया है। किन्तु जीवन के सामने जो अन्धकार है, संस्कृति
ा उसे दूर कर पायी है! प्रकाश सत्य है, क्योंकि खुला है;
ु जो अन्धकार खुला हुआ है, नग्न है, सत्य वह भी तो है।
हिन्दी कविता की आधुनिक प्रवृत्तियाँ आज अवगुण्ठनवती
धू न होकर प्रकाशवती ज्योति हैं। जीवन के लिए एक गति है
, विकास के लिए स्वस्थ जागृति रखती हैं वे। और प्रवाह
नका स्थायी गुण है।

हा जाता है, कविता जीवन की आलोचना है। और आलोचना
ट में तर्क के खेल रहते हैं। कविता एक लहर है, तो आलो-
सके लिए एक जिज्ञासा। कविता एक भावना है, तो आलो-

घना विचार। जीवन में जो गति है, प्रेरणा, वृत्ति; उसका गायन है कविता। अच्छा तो कविता का उद्देश्य क्या है? मैं कहना चाहता हूँ जीवन। किन्तु अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन का उद्देश्य क्या तो भी मैं कहना चाहूँगा—जीवन। इस प्रकार उद्देश्य के पथ में कविता और जीवन मिल जाते हैं। किन्तु प्रश्न है कि क्या जीवन का कविता से एकात्मभाव, सादृश्य, सम्बन्ध है?

जीवन तो शृङ्खलाओं में पड़कर बन्धन हो गया है। समाज के साथ व्यक्ति बँधा हुआ है। समाज ने मर्यादाएँ स्थिर की हैं और मनुष्य को उनमें बाँध दिया है। समाज की कुछ सीमाएँ सांस्कृतिक हैं, कुछ आर्थिक। और मनुष्य को इन्होंने विवश और पंगु बना डाला है। जीवन में कितनी जड़ता आ गयी है, कैसा वह कृत्रिम बन गया है। किन्तु तो भी मनुष्य समझता है, प्रकट करता है, कि वह जीवित है, संतुष्ट है—अपने आप में पूर्ण।

कविता तरङ्ग है, किन्तु जीवन तो तरङ्ग नहीं बन सका। कविता तो हमारे स्वप्नों को स्वर में, शब्दों में, भरकर साकार बना देती है। किन्तु जीवन को तो स्वप्न नहीं बनाया जा सकता। जीवन तो जगत् के स्थूल तथ्यों के आगे प्रायः घुटने टेककर चलता है। पर कविता तो इतनी परवश नहीं है। जीवन तो वह है जो बन सका है, मिल सका है, प्रत्यक्ष है। किन्तु कविता ने अपने को इतना ससीम नहीं बनाया। जीवन में जो वियोग है, कविता के लिए वही संयोग। जीवन अपने को जो नहीं बना सका, कविता उसके स्वप्नों की झाँकी है। जीवन में जो प्रत्यक्ष हो नहीं पाया कविता उसके साक्षात्कार की विवृति है। जीवन तो स्थूलता से घिरा हुआ है। स्पष्टता उसका स्वभाव है। कविता स्वप्नजगत् की वस्तु है और अस्पष्टता उसके लिए स्वाभाविक है, धर्म। जीवन की अस्पष्टता ही कविता की सार्थकता और

नष्टता है। जीवन तो बाहर फैला हुआ है, किन्तु कविता अन्त जगत् में है। जीवन बन्धनमय है, किन्तु कविता निर्बन्ध। जीवन गति है, कविता उसकी भावना।

बुद्धिवादी आलोचक कविता में अगर केवल जीवन देखना चाहता, तो उसे सबसे पहले यह जान लेना चाहिये कि बुद्धि गति नहीं है। रणा है गति। बुद्धि तो मंत्रणा मात्र है। उसका काम है विमर्श राम करना। किन्तु जीवन की अन्तर्धारा पर शासन रहता है सदा वनाओं का। और कविता उन्हीं भावना-तरङ्गों के संगीत का म है।

किन्तु कविता जीवन से दूर की ही वस्तु है, यह बात भी नहीं है। वन से मानवता की जहाँ तक संलग्नता है, मनुष्य की आत्मा पर सने जो प्रभाव डाला है, कविता का उससे आत्मीय सम्बन्ध है। वन के विशेष निकट यह तब आती है, जब वह उसके मर्म की ड़ा, अभावों के विद्रूप हास, विकार-जन्य प्रमाद, निराशा-य उच्छ्वास और विषम परिस्थिति-जन्य विद्रोह के निर्घोष की वस्तु जाती है।

इस प्रकार कविता जीवन से जितनी दूर है उतनी ही निकट। द्धवादी मानता है कि आज मानवात्मा पर बुद्धि का ही शासन है, वना का नहीं। मेरी परख ऐसा नहीं मानती। पहले ही कह चुका कि बुद्धि भावना से लड़ती रहती है। जब तक भावना उसको ना नहीं लेती, तब तक मनुष्य कार्यशील नहीं होता। बुद्धि नहीं है, भावना है गति। मनुष्य परिस्थितियों के आगे जो घुटने देता है, बुद्धिवादी कहता है कि यह उसकी हार है। मनुष्य परि-तियों के प्रताड़न से ऊपर है। यहीं बुद्धिवाद से प्रगतिवाद की त्ति हुई है।

हिन्दी कविता का आदि युग बीत चला है। इस समय हिन्दी के काव्य जगत् पर राज्य हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त का नहीं है, निराला और पंत का है। नवीन भावधाराओं की भर्त्सना और पुरातन की प्रशंसा और रक्षा आधुनिक युग की ही देन नहीं है। मनुष्य का स्वभाव ही कुछ ऐसा है कि वह अगली पीढ़ी अथवा नवीनैध के प्रति कुछ आस्था नहीं रखता। नवीन की निन्दा और प्राचीन की प्रशंसा करते रहना हमारा सांस्कृतिक गुण है। साकेत और प्रिय-प्रवास की सृष्टि आज के युग की प्रेरणा नहीं हो सकती; यद्यपि काव्य के कतिपय स्थायी तत्व इन कृतियों में भी हैं। पुरातन का यशोगान आज के साहित्य का स्फुरण हो नहीं सकता। जीवन में आज व्यस्तता और विविधता उस युग से कहीं अधिक है, जब अतीत का दर्शन हमारी स्वप्न-सृष्टि हो सकती थी। खड़ीबोली की आदिकालीन कविता तो एक प्रतिक्रिया थी, रीतिकालीन कविता के एकांगी आत्म-प्रमाद की। प्रतिक्रियाजन्य उस अस्थिरता, एकरूपता और जड़ता से आज हमारा काव्य बाले है, कहीं आगे।

कवि 'प्रसाद' केवल इसी युग की वस्तु नहीं हैं। इस युग के अनुशासन से उनका स्थान कहीं ऊपर है। वे एक ऐसी धारा के जनक हैं जिसका अनुकरण भी असाधारण कवि-प्रतिभा से ही सम्भव है। आदिम युगीन संस्कृति, विश्व-सृष्टि, विश्व-प्रकृति तथा मनुष्य की निगूढ़तम अन्तर्वृत्तियों का जो चित्र उन्होंने 'कामायनी' में उपस्थित किया है, वह तो दुर्लभ है—दुर्लभ्य। सीमाहीन भविष्य के चिरविस्तृत क्षेत्र में उनके लिए जो उच्च स्थान निश्चित है, उसको पाना तो आज एक कल्पना है, स्वप्न। आज के जगत्, समाज संस्कारों और प्रचलनों से उसे तोलना एक प्रयोग मात्र होगा।

आज के काव्य की प्रेरणाओं का स्रोत वर्तमान जीवन की निकटता प्राप्त कर चुका है। पाश्चात्य शिक्षा के प्रसार ने हमारी नयीपौध को जीवन निर्माण में जो नवल प्रेरणाएँ दी हैं, आज की कविता उसकी देन है। द्विवेदी युग के उत्तरार्द्ध में हिन्दी कविता में एक जड़ता-सी आ गयी थी। तदनन्तर उसने करवँट बदली। हमारी आज की समस्याओं और भावधाराओं के ऊहापोह का मूल आधार है, जीवन का वैषम्य और मानवात्मा के प्रति पूँजीवाद और रूढ़िवाद का कशाघात। तभी तो आज की कविता में हमें वेदना, निःश्वास चीत्कार और विद्रोह के गायन मिलते हैं। आज का मानव संतोषी नहीं है, क्योंकि वह विकासशील है। परिस्थिति से वह लड़ना चाहता है; हमारे गुरुजन आज हमारे काव्य में अतृप्त वासना की मांसल अभिव्यञ्जना देखकर जो कुपित होते हैं, वह उनके सांस्कृतिक निर्माण की एक दुर्बलता है। आज हमारे जीवन में अगर अतृप्त आकांक्षाओं की आँधियाँ हैं, तो अपने काव्य से हम उसे दूर कैसे कर सकते हैं!

छायावाद के प्रारम्भ काल में हिन्दी कविता ने प्रचलित भाव धाराओं के साथ जब विद्रोह का शंखनाद किया, तब अनुशासन का पात्र उसे बनना पड़ा था। जीवन की सर्वाङ्गीण आलोचना में उस समय एकाएक निराशा के बवण्डर उठने पर निःश्वासमय वातावरण ने कवि को प्रेरणा दी थी। उस समय कविता में कुछ अस्पष्टता तो स्वाभाविक थी। बात यह है कि आख्यान में जो एक शृङ्खला रहती है, कथन में जो एक क्रम रहता है, छायावाद की नव-नव वृत्तियों में उसकी समीचीन मुखरता नहीं थी। और खड़ीबोली की उस काल की कविता में इसी का प्रचलन था। तत्कालीन आलोचकों ने देखा ही नहीं, अनुभव ही नहीं किया कि आज की कविता में जो अस्पष्टता है, वास्तव में उसका कारण क्या है? कविता में स्पष्टता, उस काल का

आलोचक, एक बहुत बड़ा गुण मानता था। किन्तु यह एक भ्रम है। जो व्यक्त है कविता उसी की अभिव्यक्ति मात्र तो नहीं है। वह तो अव्यक्त को भी व्यक्त करती है। अच्छा तो जीवन में जो व्यक्त नहीं हो पाया, मुखरित और मूर्तित नहीं हो सका, आकार जिसने ग्रहण नहीं किया, एक स्वप्न-सा ही होकर जो रह गया, यदि उसको कविता में व्यक्त करने की चेष्टा की गयी है, तो अस्पष्टता तो उसके लिए स्वाभाविक ही है। मनुष्य उसमें पूर्ण रूप से व्यक्त हो कैसे सकेगा? हिन्दी-कविता में छायावाद और रहस्यवाद की सृष्टि का यही एक कारण है।

उस समय शायद सोचा गया था कि छायावाद हिन्दी कविता को अन्धकाराच्छन्न गर्त की ओर लिये जा रहा है। कविता में प्रसाद-गुण की महिमा के बड़े ही सुधरे और सुलझे हुए गान, उस समय, गाये गये थे। पिङ्गल, रस और अलङ्कारों की Stereotyped पद्धतियाँ उस समय हिन्दी कविता के गले में तौक़ की भाँति झूम रही थीं। उस समय कौन जानता था कि जिस छायावाद पर पत्थर बरसाये जा रहे हैं, वही एक दिन रहस्यवाद, यथार्थवाद, रोमैंटिसिज़्म और प्रगतिवाद के रूप में प्रसार पाकर हिन्दी-काव्य के नव-नव जागरण का कारण होगा?

छायावाद और रहस्यवाद में विभेद करना हमारे इस वक्तव्य का विषय नहीं है। इसके लिए तो एकांत स्थल ही होना चाहिए। यहां इतना कह दूँ कि छायावाद जीवन के उन स्वप्नों का पर्यवेक्षण है, कल्पना की विदग्धता में जो उचट-उचट गये हैं। रहस्यवाद की स्थिति दूसरी है। वह तो मनुष्य के अन्तर्लोक में व्याप्त विस्मयात्मक, चमत्कारपूर्ण, अस्पष्टतम एवं निगूढ़तम अनुभूतियों के प्रति एक अनुसंधानशील चेष्टा है। जीवन की अस्पष्टता के प्रति पहले चिन्तक और फिर

कवि की यह एक जिज्ञासु वृत्ति है। अध्यात्मवाद से उसका निकट सम्बन्ध है।

कवि निराला और पन्त छायावाद के प्रमुख अधिष्ठाता हैं। रहस्य-वाद के जनक माखनलाल चतुर्वेदी और 'प्रसाद' जी हैं। निराला और पन्त में जो अंतर है, वही माखनलाल और 'प्रसाद' में है। 'नवीन' में Romanticism और प्रगतिवाद का मिश्रण है। श्रीमती महादेवी वर्म्मा तथा रामकुमार वर्म्मा रहस्यवाद के सफल कवि हैं। भगवती-चरण वर्म्मा मूलतः यथार्थवादी कवि हैं; यद्यपि आजकल उनकी दृष्टि प्रगतिवाद की ओर है।

यथार्थवादी कवि अपनी अभिव्यञ्जना में प्रायः कटु होता है। कटु सत्य का ही दर्शन वह अपनी कविता में करता है। सौन्दर्य उसके लिए आकर्षण न होकर तिक्तता-दर्शन का विषय हो जाता है पुष्प को देखकर वह न तो उसकी सुवास से मोहित होता है, न उसके रङ्गीन दलों से। उसकी दृष्टि जाती है, या तो शहद की उस मक्खी पर, जो रस चूस रही है, अथवा उस कंटक पर, जो एक ओर चुपचाप दुबका हुआ उस अवसर की प्रतीक्षा में बैठा है, जब चुभ जाने का आनंद प्राप्तकर वह संतोष की एक साँस ले सकेगा। रोमैंटिक कवि भाव-प्रवण होता है। यथार्थवादी भीतर से रूखा, ऊपर से सरस। भगवतीचरण में उग्रता यथार्थवादी है, समवेदना प्रगतिवादी। महादेवी जी की कवि-प्रेरणाओं में उस द्रष्टा का मर्मस्पर्श है, जो जीवन की अमूर्त पिपासा के प्रति मैत्री रखना चाहता है। रामकुमार अमूर्त पिपासा के समाधान में एक अपूर्णता के द्रष्टा हैं यथार्थवादी वर्ग के दूसरे कवि हैं इलाचन्द्र जोशी। जीवन के सौंदर्य्य-दर्शन में वे भगवतीबाबू की अपेक्षा अधिक सफल हैं।

किन्तु हिन्दी की अति आधुनिक कविता पर जिस धारा का सर्वाधिक प्रभाव है, वह है प्रगतिशील धारा। जिस प्रकार

खड़ीबोली कविता की आदिकालीन धारा में रीतिकालीन धारा के प्रति विद्रोह की झलक है, उसी प्रकार छायावाद और रहस्यवाद खड़ीबोली की आदिकालीन धारा के प्रति एक विरोध है। यथार्थवाद और रोमैंटिसिज़्म का जन्म भी रहस्यवाद की निगूढ़तम शैली के प्रति तत्कालीन कवियों की विरोधिनी प्रवृत्तियों से ही हुआ है। प्रगतिवाद उसके बाद का क्रम-विकास है। आज का प्रत्येक प्रगतिवादी कवि मूलत. रोमैंटिक है। यथार्थवादी रोमैंटिक कवि की अपेक्षा रस-लोलुप कम होता है। यथार्थवाद स्वत. एक विद्रोह है हमारी उन कल्पनाओं के प्रति, जो सफल और साकार हो नहीं सकीं। इसीलिए संसार की कटुता किंवा नग्नता उसकी प्रेरणा में पहले आती है। प्रगतिवाद और यथार्थवाद में अन्तर केवल दृष्टिकोण का है। प्रगतिवादी मूलत. आशावादी होता है। वह आशा को जीवन में देखता है। यथार्थवादी निराशावादी है। विद्रोही दोनों हैं। अन्तर केवल इतना है कि यथार्थवाद में गर्जन-तर्जन की अधिकता है, सामञ्जस्य और समाधान का अभाव। प्रगतिवाद में इन दोनों का सुलझा हुआ रूप है।

तो प्रगतिवाद एक नवीनधारा है और जिसको छायावाद के विरुद्ध बहाने का सर्वाधिक श्रेय पन्त और अंचल को है। प्रगति का आज जो संकुचित अर्थ कुछ थोड़े से साम्यवादी दोरप-पर्य्यटक नेतृत्वलोभी व्यक्तियों ने लगा रक्खा है, हिन्दी

और सदा जीवित रहने की वस्तु है, वह कुन की कुल प्रगतिशील ह

मैं यह स्वीकार करता हूँ कि हमारे देश का जन-साहित्य अभी लिखा ना
गया। हमारा अधिकांश साहित्य या तो सर्वथा उच्च वर्ग का है, अथव
मध्य वर्ग का। निम्न वर्ग के साहित्य का एक बहुत बड़ा अभाव है हमारे
यहाँ। मैं मानता हूँ कि आज पूंजीवाद की चक्की के नीचे हमारी
मानवता पिस रही है। इस ओर दृष्टि डालना आज कवि के
लिए अत्यन्त आवश्यक है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या किसी एक
वर्ग, एक समय तथा एक स्थिति के लिए कविता को सीमित-मर्यादित
किया जा सकता है? क्या यह सम्भव है? और क्या यह एक
प्रतिक्रिया नहीं है?

प्रगतिशील धारा के प्रमुख कवि हैं—उदयशङ्कर भट्ट, बच्चन,
अञ्चल, दिनकर और नरेन्द्र। भट्ट जी की विवेचना दार्शनिकता
लिये हुए है। बच्चन जीवन की सूक्ष्म वृत्तियों के साथ घुल-मिल
जाने में बड़े प्रवीण हैं। आज उनकी सृष्टि में कवि है लय में दार्श-
निक। 'अंचल' की वाणी में जितना दर्द है, वैसा ही हुंकार भी
है। उनमें मार्क्सवाद की एक शक्तिपूर्ण पुकार है। 'दिनकर' की प्रेरणा
भारत की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि है। नरेन्द्र मस्तिष्क से प्रगतिशील हैं,
किन्तु प्रकृति से रोमैंटिक।

नवोदित कवियों में सर्वश्री 'अज्ञेय', होमवती देवी, नीलकण्ठ
वारी, रामविलास शर्मा, आरसीप्रसाद सिंह गङ्गाप्रसाद पांडेय,
दानन्द वर्म्मा, सुरेन्द्र बालूपुरी, श्यामबिहारी शुक्ल 'तरल'
प्रकाश वर्म्मा, शिवमङ्गलसिंह 'सुमन' आदि का भविष्य उज्ज्वल
पड़ता है।

जैसे आशा जीवन के लिए प्राण है, वैसे साहित्य के लिए भी
भविष्य है। और भविष्य के प्रशस्त पथ में उसी आशा
रण मैं हिन्दी की आधुनिक कविता में देख रहा हूँ।

भगवतीप्रसाद वाजपेयी

युगारम्भ

स्वर्गीय जयशंकर 'प्रसाद'

आपका जन्म संवत् १९४६ ईसवी में और देहान्त नवम्बर १९३७ में हुआ। आप बनारस के निवासी थे। स्कूल और कालेज की शिक्षा से वंचित रहकर भी आप अनन्य आर्य और उन्नत संस्कृति के बौद्ध थे। साथ ही दार्शनिक, इतिहासज्ञ, पंडित, कवि, कलाकार, संगीतज्ञ, नाटककार, गीतकार, उपन्यासकार, कहानीकार और निबन्ध-लेखक भी थे। आपकी प्रतिमा बहुमुखी थी और आपने जो कुछ लिखा उच्चकोटि का और सुन्दर लिखा। हिन्दी के सर्वप्रथम युगान्तर कारी कवि और लेखक आप माने जाते हैं। साहित्यकार की महानता के विचार से भी श्री प्रेमचन्द्र के समकक्ष आपका ही नाम हमारे समक्ष आता है।

प्रसाद जी ने हिन्दी में रहस्यवाद की अवतारणा की है। आकाश के समान उन्मुक्त और गम्भीर, रहस्यमयी कल्पना आपने पाई थी। प्रकृति के तथ्यों के समीकरण के साथ आत्मा के अनहद संगीत को

जिस मधुरता और वास्तविक कवि-प्रेरणा के साथ प्रसादजी ने मिलाया है वह पढ़ने और समझकर व्याकुल होने की चीज़ है।

प्रसाद जी में जितना रोमांस है उतना उस युग के किसी भी कवि में नहीं दीखता। प्राच्य संस्कृति के वे अनन्य उपासक थे और उसी की उपासना और साधना का प्रमाण उनकी कृतियाँ देती हैं। साथ ही उसी दार्शनिकता भी आपकी कविता में कहीं-कहीं वैसी मस्ती और दीवानापन लेकर उतर आई है। शीराजी की सी मादकता भर भर कर प्रसाद जी ने कहीं कहीं तो अपनी कविता को ऐसी नशीली बना दिया है कि उसका स्वाद और मुख मूलता ही नहीं। उनकी कविता में वह वेदना है, वह व्यापकता है, वह मानिक स्वच्छन्दता भी है, और स्थूल का सूक्ष्म से इतना रहस्यपूर्ण सम्मिलन भी है कि वह हमें विभोर कर देती है।

प्रसाद जी के थोड़े से बौद्धिक स्वप्न भी थे जो हमें उनकी रचनाओं में यदा-कदा दिख जाते हैं। उनकी शैली भी शायद किसी भी हिन्दी कवि की अपेक्षा अपनी है। उनका शब्द-चयन, उनकी गंभीरता, उनके साहित्य सृजन में नये संस्कारों की सृष्टि और उनकी कला का नवयुग का सन्देश, उनके काव्य का प्रवाह और गति ये सब सिद्ध करते हैं कि वे किसी भी विषय को लाघव और सस्तेपन में सोच ही नहीं सकते थे। जिसे अँगरेजी में पेटीनेस कहते हैं, वह हमें उनकी अति आरम्भिक दोचार कविताओं में छोड़कर अन्य कहीं नहीं दीखी।

'कामायनी' प्रसाद जी का अमर महाकाव्य है रहस्यवाद का तो प्रथम ही। मानव का ऐसा वास्तविक विश्लेषण और काव्यमय निरूपण हिन्दी के दो ही एक ग्रन्थों में मिलेगा। विषय और भाषा का प्रौढ़ सामंजस्य है। और सबसे बड़ी बात है मानवात्मा के विकट संघर्ष और विजय की महावाणी। उसमें जीवन की फिलासफी का क्रमिक

और स्वाभाविक विकास है। मानवात्मा कीएक शाश्वत पुकार को लेकर इसकी रचना हुई है। कवि का उन्नततम और चरम रूप हमें इसमें दिखाई देता है।

कवि प्रसाद की काव्य-चेतना का आधार बौद्धिक और आध्यात्मिक है। उनकी कल्पना में जीवन और भावना में पिपासा है। रूप और विलास में एक गुलाबी तृष्णा है, और अनुभूतियों में मनोनिवेश तथा आत्म-संवेदना। प्रकृति जैसे मानव की अनुचरी है और मानव आध्यात्मिक संकेतों पर उसे नचा रहा है। उन्होंने जीवन को सम्पूर्ण आग्रह के साथ ग्रहण किया और वे सम्पूर्ण अर्थ में सच्चे मानवीय कवि थे। रूप और विलास, आलस्य और प्रमोद के जैसे श्रेष्ठतम चित्र उनके काव्य में आये हैं वैसे आधुनिक हिन्दी कवियों में किसी के काव्य में नहीं है। यौवन और सौन्दर्य ये दोनों, भरे-भरे से प्रतिक्षण उनकी आखों के आगे नाचते रहते थे। जीवन की जितनी भी लालसा भरी स्मृतियाँ होती हैं वे सब उनके काव्य में ज्यों की त्यों उतर आई हैं। उनकी एक कविता है प्रलय की छाया, वह तो अपूर्व है। हिन्दी क्या, अन्य प्रान्तीय भाषाओं में भी ऐसी नशीली कवितायें कम होंगी। नारी के रूप और प्रवृत्तियों का जो वर्णन इसमें है वह एक चीज़ है।

कवि प्रसाद प्रेम के कवि हैं। उनके प्रेम में जीवन की साधना और वास्तविकता है। त्याग, आग्रह, योग-वियोग, आत्म-विसर्जन और अधिकार सभी कुछ तो है। परन्तु एक ऊंचे कलाकार की भांति वे सब में घुलमिल कर भी सब से अलग हैं। जैसे उनका अलग भी एक आध्यात्मिक आधार है। वे सब कुछ हो जाने पर भी अपने आत्म-रूप को नहीं भूले। भावनाओं के इस विराट हलचल और संघर्ष में एक अद्भुत बौद्धिक निस्संगता लेकर वे आगे बढ़ते हैं। यही है उनके कलाकार का शक्तिमय व्यक्तित्व, जो सदैव अपने को जागरूक रखता है।

?

वे कुछ दिन कितने सुन्दर थे
जब सावन घन सघन बरसते इन आँखों की छाया भर थे
सुरधनु रंजित नव जलधर से भरे क्षितिजव्यापी अम्बर से
मिले चूमते जब सरिता के हरित कूल युग मधुर अधर थे
प्राण-पपीहा के स्वर वाली बरस रही थी जब हरियाली
रस-जल-कन मालती-मुकुल से जो मदमाते गन्धविधुर थे
चित्र खींचती थी जब चपला नील मेघ-पट पर वह विरला
मेरी जीवन-स्मृति के जिसमें खिल उठते वे रूप मधुर थे

जागरण

जिसके आगे पुलकित हो जीवन है सिसकी भरता
हाँ, मृत्यु नृत्य करती है मुस्क्याती खड़ी अमरता
वह मेरे प्रेम ! विहँसते जागो मेरे मधुवन में
फिर मधुर भावनाओं का कलरव हो इस जीवन में
मेरी आहों में जागो सुस्मित में सोने वाले
अधरों से हँसते-हँसते आँखों से रोने वाले
इस स्वप्नमयी संसृति के सच्चे जीवन तुम जागो
मङ्गल किरणों से रञ्जित मेरे सुन्दर तुम जागो

अभिलाषा के मानस में सरसिज-सी आँखें खोलो
मधुपों से मधु गुञ्जारो कलरव से फिर कुछ बोलो
आशा का फैल रहा है यह सूना नीला अंचल
फिर स्वर्ण सृष्टि-सी नाचे उसमें करुणा हो चंचल
मधु संसृति की पुलकावलि जागो अपने यौवन में
फिर से मरन्द उद्गम हो कोमल फूलों के वन में
फिर विश्व माँगता होवे ले नभ की खाली प्याली
तुमसे कुछ मधु की बूँदे लौटा लेने को लाली
फिर तम प्रकाश झगड़े में नव-ज्योति विजयिनी होती
हँसता फिर विश्व हमारा बरसाता मंजुल मोती
प्राची के अरुण मुकुर में सुन्दर प्रतिबिम्ब तुम्हारा
उस अलस उषा में देखूँ अपनी आँखों का तारा
कुछ रेखाएँ हों ऐसी जिनमें आकृति हो उलझी
तब एक झलक, वह कितनी मधुमय रचना हो सुलझी
जिसमें इतराई फिरती नारी निसर्ग सुन्दरता
छलकी पड़ती हो जिसमें शिशु की ऊर्मिल निर्मलता
आँखों का निधि वह मुख हो अवगुण्ठन नील गगन-सा
वह शिथिल हृदय ही मेरा खुल जावे स्वयं मगन-सा
मेरी मानस-पूजा का पावन प्रतीक अविचल हो
झरता अनन्त यौवन-मधु अम्लान स्वर्ण शतदल हो
कल्पना अखिल जीवन की किरनों से दृग तारा की
अभिषेक करे प्रतिनिधि बन आलोकमयी धारा की

वेदना मधुर हो जावे मेरी निदय तन्मयता
मिल जावे आज हृदय को पाऊँ मैं भी सहृदयता
मेरी अनामिका सगिनि सुन्दर कठोर कोमलते
हम दोनों रहें सखा ही जीवनपथ चलते-चलते
ताराओं की वे रातें कितने दिन कितनी घड़ियाँ
विस्मृति में बीत गईं वे निर्मोह काल की कड़ियाँ
उद्वेलित तरल तरंगें मन की न लौट जावेंगी
हाँ उस अनन्त कोने को ये सब नहला आवेंगी
जल भर लाते हैं जिसको छूकर नयनों के कोने
उस शीतलता के प्यासे दीनता दया के दोने
फेनिल उच्छ्वास हृदय के उठते फिर मधुमाया में
सोते सुकुमार सदा जो पलकों की सुख छाया में
आँसू-वर्षा से सिंचकर दोनों ही कूल हरा हो
उस शरद प्रसन्न नदी में जीवन द्रव अमल भरा हो
जैसे सरिता के तट पर जो जहाँ खड़ा रहता है
विधु का आलोक तरल पथ सम्मुख देखा करता है
जागरण तुम्हारा त्योंही देकर अपनी उज्ज्वलता
इन छोटी बूँदों से भी हर लेता सब पंकिलता
इस छोटी-सी सीपी में रत्नाकर खेल रहा हो
करुणा की इन बूँदों में आनन्द उँडेल रहा हो
मेरे जीवन का जलनिधि जब ---..
आकाश दीप-सा जगता तेरा ·

मुँह ढाँपे पड़ी हुई हों मन की जितनी पीड़ायें
वे हँसने लगें सुमन-सी करती कोमल क्रीड़ायें
तेरा आलिङ्गन कोमल मधु अमर बेलि-सा फैले
धमनी के इस बन्धन में जीवन ही न हो अकेले
हे जन्म-जन्म के जीवन ! साथी संसृति के दुख में
पावन प्रभात हो जावे जागो आलस के सुख में
जगती का कलुष अपावन तेरी विदग्धता पावे
फिर निखर उठे निर्मलता यह पाप पुण्य हो जावे

कामायनी का विरह

'जीवन में सुख अधिक या कि दुख, मन्दाकिनि कुछ बोलोगी ?
नभ में नखत अधिक, सागर में या बुदबुद हैं गिन दोगी ?
प्रतिबिंबित हैं तारा तुममें, सिंधु-मिलन को जाती हो,
या दोनों प्रतिबिंब एक के इस रहस्य को खोलोगी !

इस अवकाश-पटी पर जितने चित्र बिगड़ते-बनते हैं,
उनमें कितने रंग भरे, जो सुर-धनु-पट से छनते हैं;
किन्तु सकल अणु पल में घुलकर व्यापक नील शून्यता-सा,
जगती का आवरण वेदना का धूमिल पट बुनते हैं।

दग्ध श्वास से आह न निकले सजल कुहू में आज यहाँ !
कितना स्नेह जलाकर जलना, ऐसा है लघु दीप कहाँ !
बुझ न जाय वह साँझ किरण-सी दीप-शिखा इस कुटिया की,
शलभ समीप नहीं तो अच्छा, सुखी अकेले जले यहाँ !

आज सुनो केवल चुप होकर, कोकिल जो चाहे कह ले,
पर न परागों की वैसी है चहल-पहल जो थी पहले,
इस पतझड़ की सूनी डाली और प्रतीक्षा की संध्या,
कामायनि, तू हृदय कड़ा कर धीरे-धीरे सब सह ले।

विरह डालियों के निकुंज सब ले दुख के निःश्वास रहे,
उस स्मृति का समीर चलता है, मिलन-कथा फिर कौन कहे?
आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोएँगे जो अश्रु पलक के पार बहे!

अरे मधुर हैं कष्ट-पूर्ण भी जीवन की बीती घड़ियाँ!
जब निःसंबल होकर कोई जोड़ रहा बिखरी कड़ियाँ;
वही एक जो सत्य बना था चिर सुन्दरता में अपनी,
छिपा कहीं तब कैसे सुलझे उलझी सुख-दुख की लड़ियाँ!

विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं;
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा मधु अभिलाषाएँ
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं!

वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहाँ?
और मधुर विश्वास! अरे वह पागल मन का मोह रहा;
वंचित जीवन बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का
कभी दे दिया था कुछ मैंने ऐसा अब अनुमान रहा।

जल उठते हैं लघु जीवन के मधुर-मधुर वे पल हलके,
मुक्त उदास गगन के उर में छाले बनकर जा झलके;
दिवा-श्रांत आलोक-रश्मियाँ नील निलय में छिपी कहीं,
करुण वही स्वर फिर उस संसृति में बह जाता है गल के ।

प्रणय किरण का कोमल बंधन मुक्ति बना बढ़ता जाता,
दूर, किन्तु कितना प्रतिपल वह हृदय समीप हुआ जाता ।
मधुर चाँदनी-सी तंद्रा जब फैली मूर्च्छित मानस पर,
तब अभिन्न प्रेमास्पद उसमें अपना चित्र बना जाता ।

कामायनी सकल अपना सुख-स्वप्न बना-सा देख रही,
युग-युग की वह विकल प्रतारित मिटी हुई बन लेख रही;
जो कुसुमों के कोमल दल से कभी पवन पर अंकित था,
आज पपीहा के पुकार-सी नभ में खिचती रेख रही ।

पं० सूर्यकांत त्रिपाठी 'निराला'

निराला जी हिन्दी के क्रांतिकारी कवि हैं और वर्तमान रहस्यवाद स्कूल के एक प्रमुख स्तम्भ माने जाते हैं। आपकी कविताओं में दार्शनिकता और आध्यात्मिकता विशेष रूप से सन्निविष्ट है। गूढ़ भावों को गूढ़ और सरल दोनों प्रकार की भाषा में चित्रित करना आपकी विशेषता है। सूफी सिद्धान्तों की छाया भी आपकी कविता पर पड़ी है और आपकी कविता में कला का चरम विकास और उत्कर्ष हुआ है। परन्तु जहां आपकी कविता में जटिलता आजाती है वहां वह बादलों की घन घमंड हो जाती है और जहां सरलता आती है वहां वह रश्मिवत् सरल और नीहारवत् तरल हो जाती है।

निराला जी का जन्म संवत् १९५५ में बंगाल में महिषादल स्टेट में हुआ। आप यों गढ़ाकोला जिला उन्नाव के रहनेवाले हैं। बचपन में आप प्रतिभाशाली छात्र थे; परन्तु आपकी पढ़ाई सुचारुरूप से चल न सकी। संगीत की ओर आपका बहुत पहिले से झुकाव था और राजा साहब की ओर से आप के लिये संगीत के अध्यापक नियुक्त किये गये थे। यही कारण है कि कवि निराला की कविता में संगीत बड़ा

ही पूर्ण है और इस कसौटी पर कसने से उसमें कहीं भी कोई त्रुटि नहीं दीखती। हिन्दी में गीति काव्य का बीज इन्होंने ही वपन किया है।

निराला जी के वर्णन स्वच्छ तथा ध्वनि-गाम्भीर्य से युक्त होते हैं। जैसे महान ये कवि हैं वैसे ही दार्शनिक भी। परन्तु एक बड़ी भारी कठिनाई इनके काव्य और कवि को समझने में यह होती है कि ये अति गम्भीर और अर्थगौरव युक्त हैं। गद्य में यह हाल है, जैसे एक बड़ा ही शक्तिपूर्ण बीज अपना ठीक प्रकार से विकास ऐंडावेंड़ा हो अपनी प्रचंड जीवनी शक्ति से ऊपर उठ आया हो और सतत प्रसरणशील हो। हिन्दी कविता में इनका अपना स्थान है और इनका सा *दार्शनिक प्रकाश अन्य किसी कवि की कविता में नहीं दीखता—* महादेवी जी और प्रसाद जी को छोड़कर। छन्दों में ये एक बड़े *'टेकनीशियन' और युगान्तर कारी काव्यकार हैं।*

कबीर के रहस्यवाद, पन्त के सुकुमार छायावाद और प्रसाद की गम्भीर अभिव्यंजना का इनके ऊपर सम्मिलित प्रभाव है। मगर अपना निजी शक्तिपूर्ण संघर्षमय व्यक्तित्व भी है जो अलग ही दीखता है। अँगरेजी और बंगला साहित्य कला दोनों का आप पर प्रभाव पड़ा है और दोनों के आवरण के सौन्दर्य के साथ साथ अद्वैत वेदान्त की घनी छायाने आपके सम्पूर्ण काव्य को परिच्छन्न कर रक्खा है। अनुकान्त और स्वच्छन्द छन्दों का सफल निर्माण करके आपने एक नूतन धारा बहाई है और आपके काव्य-ऐश्वर्य पर हिन्दी को उचित गर्व है।

कहीं कहीं इनकी अभिव्यंजना इतनी गम्भीर है कि साधारण पाठक की पहुँच के बाहर हो जाती है। इनके काव्य में पूर्व-पश्चिम दोनों धारायें मिलती हैं।

निराला की कविता में दो विशेषतायें प्रमुख रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। चित्र की पूर्णता और रूप से अरूप में परिणति। साथ ही

जैसा आलोचक प्रवर पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी ने एक समय भारत में लिखा था कि वे हिन्दी के उन कवियों में हैं जिनकी सबसे बड़ी देन बौद्धिक तत्त्व है। सचमुच उनकी प्रतिभा बौद्धिक अधिक है—भावुकतामय कम। वे शुरू से बुद्धिजीवी रहे हैं और नतीजा यह होता है कि औरों की कविता की भाँति अपनी कविता में सूक्ष्म संवेदनशीलता के प्रति तार्किक हो जाते हैं। फिर भी यथा साध्य सदैव वे अन्तर्मुख रहते हैं।

कवि निराला की एक विशेषता और है इनकी स्वस्थ माँसल भाषा यद्यपि यह निर्विरोध सत्य है कि उनकी भाषा कहीं कहीं अति कठोर है और अर्थ की गुरुता और विराटता से दब सी गई है। परन्तु अधिकांश में उनकी भाषा प्रौढ़ और जीवन्त है। टीन पर इसकी क्रिस्म की पालिश न कर के ऐसा ज्ञात होता है उन्होंने सोने के ठोस पिंडों को गला गलाकर बढ़ाया है। भाषा के सम्बन्ध में कवि निराला रवीन्द्र के अत्यन्त निकट हैं। निराला जी गद्यकार भी उच्चकोटि के हैं। कहानियाँ भी इन्होंने काफ़ी लिखी हैं और वे प्रमाद्रत भी हो चुकी हैं। उनके उपन्यास भी सफल कहे जा सकते हैं। परन्तु उनका आगामी उपन्यास 'चमेली' सबसे श्रेष्ठ और शक्ति पूर्ण होगा। अप्सरा, अलका और प्रभावती जैसे उपन्यासों से उनकी रचनात्मक सर्जना अब आगे बढ़ आई है और उनमें आघातकारिणी शक्ति भी पुष्ट हो रही है। उनकी कहानियों में 'देवी' सबसे स्पर्श है और मानवता का जो रूप उसमें उभरा है, वह अभिनन्दनीय है। अभी तक उपन्यास और कहानियों के क्षेत्र में तो निराला जी अपने अनुरूप अपना स्थान नहीं बना पाये हैं। परन्तु समालोचक, विचारक और दार्शनिक निबन्धकार वे उच्चकोटि के हैं।

निराला भी हिन्दी के अमर ओजस्वी कवि हैं। छोटी छोटी अपूर्णताओं के बावजूद भी उनमें एक आघातकारिणी सत्ता है—एक जीवन है जो हमारे युग की कविता के लिए एक बड़ी देन है। उनका

जितना भी सम्मान किया जाय थोड़ा है। वे आज हिन्दी के सर्वश्रेष्ठ और सर्वमान्य कवि हैं। पन्त जी का स्थान उनके बाद आता है। उनकी कुछ रचनायें तो वास्तव में अमर हैं विश्वजनीन और युगजनीन। उनका तुलसीदास एक ऐसा उल्लेखनीय काव्य है जो समझकर पढ़ा जाय तो एक अपूर्व सुख का स्रोत खोल देता है।

आवेदन

(गीत)

फिर सवाँर सितार लो !
बाँध कर फिर ठाट, अपने
अंक पर झंकार दो !
शब्द के कलि-दल खुलें,
गति-पवन-भर काँप थर-थर
मीड़ - भ्रमरावलि ढुलें,
गीत—परिमल बहे निर्मल,
फिर बहार बहार हो !
स्वप्न ज्यों सज जाय
यह तरी, यह सरित, यह तट,
यह गगन, समुदाय।
कमल-वलयित-सरल-दृग-जल
हार का उपहार हो !

वे किसान की नई बहू की आँखें

नहीं जानतीं जो अपने को खिली हुई—
विश्व-विभव से मिली हुई,—
नहीं जानतीं सम्राज्ञी अपने को,—
नहीं कर सकीं सत्य कभी सपने को,
वे किसान की नई बहू की आँखें
ज्यों हरीतिमा में बैठे दो विहग बन्द कर पाँखें;
वे केवल निर्जन के दिशाकाश की,
प्रियतम के प्राणों के पास—हास की,
भीरु पकड़ जाने को हैं दुनियाँ के कर से—
बढ़े क्यों न वह पुलकित हो कैसे भी वर से।

गीत

(वागीश्वरी—धम्मार)

प्राणधन को स्मरण करते,
नयन झरते—नयन झरते।

स्नेह ओतप्रोत:
सिन्धु दूर, शशिप्रभा-दृग
अश्रु ज्योत्स्नास्रोत;
मेघमाला सजलनयना
सुहृद उपवन को उतरते।

दुःखयोग, धरा
विकल होती जब दिवस-वरा,
हीन तापकरा,
गगन-नयनों से शिशिर झर
प्रेयसी के अधर भरते।

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर ;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहारः—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,

दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गई,

प्रायः हुई दुपहरः——
वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिर सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा——
"मैं तोड़ती पत्थर।

———

दुःसयोग, धरा
विकल होती जब दिवस-त्वरा,
हीन तापकरा,
गगन-नयनों से शिशिर भर
प्रेयसी के अधर भरते।

तोड़ती पत्थर

वह तोड़ती पत्थर ;
देखा उसे मैंने इलाहाबाद के पथ पर—
वह तोड़ती पत्थर ।

कोई न छायादार
पेड़ वह जिसके तले बैठी हुई स्वीकार ;
श्याम तन, भर बँधा यौवन,
नत नयन, प्रिय-कर्म-रत मन,
गुरु हथौड़ा हाथ,
करती बार बार प्रहारः—
सामने तरु-मालिका अट्टालिका, प्राकार।
चढ़ रही थी धूप;
गर्मियों के दिन,

दिवा का तमतमाता रूप;
उठी झुलसाती हुई लू,
रुई ज्यों जलती हुई भू,
गर्द चिनगीं छा गईं,

प्रायः हुई दुपहरः——
वह तोड़ती पत्थर।

देखते देखा मुझे तो एक बार
उस भवन की ओर देखा, छिन्नतार;
देखकर कोई नहीं,
देखा मुझे उस दृष्टि से
जो मार खा रोई नहीं,
सजा सहज सितार,
सुनी मैंने वह नहीं जो थी सुनी झंकार।
एक छन के बाद वह काँपी सुघर,
ढुलक माथे से गिर सीकर,
लीन होते कर्म में फिर ज्यों कहा——
'मैं तोड़ती पत्थर।

——

प्रेयसी

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन ।
खिले नव पुष्प जग-प्रथम-सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में, गुच्छ-गुच्छ ।
दृगों को रंग गई प्रथम प्रणय-रश्मि,—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों, पत्र पर
कनक-प्रभात के किरण-सम्पात से ।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मंजु-मुख
गुंज-मृदु अलि-पुंज,
मुखर-उर मौन वा, स्तुति-गीत में हरे ।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक्——
भरते अन्तर पुलक-राशि से बार बार;
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी कम्पित-प्रतनु-भार,

प्रेयसी

घेर अंग-अंग को
लहरी तरंग वह प्रथम तारुण्य की,
ज्योतिर्मयि-लता-सी हुई मैं तत्काल
घेर निज तरु-तन।
खिले नव पुष्प जग-प्रथम-सुगन्ध के,
प्रथम वसन्त में, गुच्छ-गुच्छ।
दृगों को रग गई प्रथम प्रणय-रश्मि,—
चूर्ण हो विच्छुरित
विश्व-ऐश्वर्य को स्फुरित करती रही
बहु रंग-भाव भर
शिशिर ज्यों, पत्र पर
कनक-प्रभात के किरण-सम्पात से।
दर्शन-समुत्सुक युवाकुल पतंग ज्यों
विचरते मंजु-मुख
गुंज-मृदु अलि-पुंज,
मुखर-उर मौन वा, स्तुति-गीत में हरे।
प्रस्रवण झरते आनन्द के चतुर्दिक्——
भरते अन्तर पुलक-राशि से बार बार;
चक्राकार कलरव-तरंगों के मध्य में
उठी हुई उर्वशी-सी कम्पित-प्रतनु-भार,

मन पर हुए प्रपन, आप ही आप दृष्टि,
कैसा मन मन्दिर में मिल एकत्र हो गया।
दिये यहाँ प्राण जो इच्छा से दूसरे को,
इच्छा से प्राण वे दूसरे के हो गये।
दूर भी,
लिपकर नवीन रूपों में हुई, अपनी ही दृष्टि में;
जो था समीप विरह, दूर, दूरतर किया।
मिली ज्योति-छवि से; तुम्हारी ज्योति-छवि मेरी,
नीलिमा ज्यों शून्य से ; बँधकर मैं रह गई।
डूब गये प्राणों में पल्लव-लता-भार
वन-पुष्प-तरु-हार
कूजन-मधुर चल-विश्व के दृश्य सब,
सुन्दर गगन के भी रूप-दर्शन सकल ;—
सूर्य-हीरकधरा प्रकृति नीलाम्बरा,
सन्देशवाहक बलाहक विदेश के।
प्रणय के प्रलय में सीमा सब खो गई।
बँधी हुई तुमसे ही देखने लगी मैं फिर
फिर प्रथम पृथ्वी को ;
बदला हुआ था भाव,
चारों ओर
[illegible] वर्षण बनी हुई।
निरंजन यह अंजन आ लग गया!

उनकी ही मैं हुई !
समझ नहीं सकी, हाय,
अंचल में बँधा सत्य
खुलकर कहाँ गिरा !
 बीता कुछ काल,
देह-ज्वाल बढ़ने लगी,
नन्दन-निकुञ्ज की रति को ज्यों मिला मरु;
उतरकर पर्वत से निर्झरी भूमि पर
पंकिल हुई, सलिल-देह कलुषित हुआ।
करुणा को अनिमेष दृष्टि मेरी खुली,
किंतु अरुणार्क, प्रिय, झुलसाते ही गये ,—
भर नहीं सके प्राण रूप-बिन्दु-दान से।
तब तुम, लघु-पद-विहार
अनिल ज्यों बार बार,
वक्ष के सजे तार झंकृत करने लगे
साँसों से, भावों से, चिंता से कर प्रवेश।
अपने उस गीत पर,
सुखद मनोहर उस तान की माया में,
लहरों में हृदय की
भूल-सी मैं गई
संसृति के दु:ख-घात;
श्लथ-गात

किया आह्वान मुझे ;
आई मैं द्वार पर सुन प्रिय-कंठ-स्वर,
अश्रुत जो बजता रहा था झंकार भर
जीवन की वीणा में,
सुनती थी मैं जिसे,
पहचाना मैंने, हाथ
बढ़कर तुमने गहा ;
चल दी मैं मुक्त साथ।
एक बार थी ऋणी
उद्धार के लिए ;
शत बार शोध की उर में प्रतिज्ञा की।
पूर्ण मैं कर चुकी ;
गर्वित, गरीयसी
अपने में आज मैं।
देह के द्वार पर
मोह की माधुरी
कितने ही बार पी मूर्च्छित हुए हो, प्रिय,
जगती मैं ही रही,
गह, बाँह-बाँह में भरकर सम्हाला तुम्हें।

आया कलियों में मधुर
मद-उर-यौवन-उभार—
जागो फिर एक बार ?
पिउ-रव पपीहे प्रिय बोल रहे
सेज पर विरह-विदग्धा वधू
याद कर बीती बातें रातें मन-मिलन की
मूँद रही पलकें चारु,
नयन-जल ढल गए,
लघुतर कर व्यथा भार—
जागो फिर एक बार !
सहृदय समीर जैसे
पोंछो प्रिय नयन-नीर
शयन-शिथिल-बाहें
भर स्वप्निल आवेश में,
आतुर उर वसन-मुक्त कर दो,
सब सुप्ति सुखोन्माद हो;
छूट-छूट अलस
फैल जाने दो पीठ पर
कल्पना से कोमल
ऋजु-कुटिल प्रसार-कामी केश-गुच्छ।
तन-मन थक जायें
मृदु सुरभि-सी समीर में

तुम और मैं

तुम तुङ्ग-हिमालय-शृङ्ग, और मैं चञ्चलगति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय-उच्छ्वास, और मैं कान्त कामिनी कविता॥
तुम प्रेम—और मैं शान्ति
तुम सुरापान-घन-अन्धकार, मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति॥
तुम दिनकर के खर-किरण-जाल, मैं सरसिज की मुसकान।
तुम वर्षों के बीते वियोग मैं हूँ पिछली पहचान।
तुम योग—और मैं सिद्धि।
तुम हो रागानुग निश्छल तप, मैं शुचिता सरल समृद्धि॥
तुम मृदु मानस के भाव, और मैं मनोरंजिनी भाषा।
तुम नन्दन-वनघट-विटप, और मैं सुख-शीतल-तल शाखा।
तुम प्राण—और मैं काया।
तुम शुद्ध सच्चिदानन्द ब्रह्म, मैं मनोमोहिनी माया।
तुम प्रेममयी के कण्ठहार, मैं वेणी काल-नागिनी।
तुम कर-पल्लव-झंकृत सितार, मैं व्याकुल विरह-रागिनी॥
तुम पथ हो, मैं हूँ रेणु।
तुम हो राधा के मन-मोहन; मैं उन अधरों की वेणु॥
तुम पथिक दूर के श्रान्त, और मैं बाट जोहती आशा।
तुम भवसागर दुस्तार, पार जाने की मैं अभिलाषा॥
तुम नभ हो, मैं नीलिमा।
तुम शरद-सुधाकर कला-हास मैं हूँ निशीथ मधुरिमा॥

तुम गंध-कुसुम-कोमल पराग, मैं मृदुगति मलय-समीर ।
तुम स्वेच्छाचारी मुक्त पुरुष, मैं प्रकृति-प्रेम-जंजीर ॥
तुम शिव हो, मैं हूँ शक्ति ।
तुम रघुकुल-गौरव रामचन्द्र, मैं सीता अचला भक्ति ।
तुम आशा के मधुमास, और मैं पिक-कल-कूजनतान ।
तुम मदन पंचशर-हस्त और मैं हूँ मुग्धा अनजान ॥
तुम अम्बर मैं दिग्वसना ।
तुम चित्रकार घन-पटल—श्याम मैं तड़ित्तूलिका रचना ॥
तुम रण-ताण्डव उन्माद—नृत्य मैं मुखर-मधुर नूपुर-ध्वनि ।
तुम नाद-वेद-ओंकार-सार, मैं कवि-शृंगार-शिरोमणि ॥
तुम यश हो, मैं हूँ प्राप्ति ।
तुम कुन्द-इन्दु-अरविंद शुभ्र, तो मैं हूँ निर्मल व्याप्ति ॥

माखनलाल चतुर्वेदी

'एक भारतीय आत्मा'

माखनलाल चतुर्वेदी हिन्दी में नयी धारा में एक विशेष वर्ग के प्रतिनिधि हैं जिसके अन्तर्गत नवीन और दिनकर ये दो नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। आपके उपनाम के अनुरूप ही आपकी कविता है। हिम-किरीटिनी भारत माता के चीत्कारों की कहानी और छूट-पटाती हुई आत्मा का आवेदन जैसे आपकी कविता में चरण चरण पर मिलता है। आपका समस्त कवित्व आपकी भारत की आत्मा में केन्द्रीभूत है। साथ ही प्रेम, आनन्द, उल्लास, नैराश्य, वीरत्व और देश भक्ति ये सब अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचे हुए मिलते हैं।

आपकी कविता में यों तो अनेक गुण हैं और उसके प्रेमी भी असंख्य हैं, परन्तु सबसे बड़ी अपील है उसकी मिठास। मिठास भी पन्त जी की कोमलकान्त पदावली वाली नहीं, वरन भावना के भीतर घुलती रहने वाली मन की मिश्री की। भाषा में भी एक निराला बाँका-पन होता है और गद्य और पद्य दोनों में आप अपनी शैली के आचार्य हैं, जैसे आपका सम्पूर्ण अस्तित्व लिखते समय एक ही अनुभूति से ओतप्रोत हो उठा हो। तीर की ऐसी स्पष्टता और कोकिल के प्रभात स्वर सी मादक विह्वलता से आपका काव्य अनुप्राणित है।

चतुर्वेदी जी नवीनधारा के प्रथम कवि हैं जिन पर द्विवेदी काल का कोई स्पष्ट प्रभाव नहीं झलकता। मन की सुकुमार वृत्तियों का संवेदान आपकी शैली है और आपकी यह देन अपने ढंग की सर्वथा मौलिक है। साथ ही आप हिन्दी के ही नहीं वरन राष्ट्रवाणी के कवि हैं और अखिल भारतवर्षीय राष्ट्र की चेतना की वेदनाकुल सजगत

का सजीव चित्र हमें आपकी भावपूर्ण और मार्मिक राष्ट्रीय कविताओं में मिलता है।

आपके साहित्यिक जीवन के और भी कई रूप हैं। उच्चकोटि के गद्य लेखक तो आप हैं ही, एक प्रभावशाली वक्ता भी हैं। भाषा और भावों की छटा लेकर आप जब मंच पर बोलने के लिए खड़े होते हैं तो आपका शैलीकार ही वहाँ भी दृष्टिगोचर होता है। पिछले अर्थात सन् १९२१ के आन्दोलन से ही आप कांग्रेस में कार्य कर रहे हैं और मध्यप्रान्त के अच्छे राष्ट्रकर्मी आप माने जाते हैं। यद्यपि इधर कुछ समय से आप राजनीति से अलग से होगये दीखते हैं और आज प्रान्त की राजनैतिक परिधि में आपके लिये कोई स्थान रह गया नहीं दीखता। 'कृष्णार्जुन युद्ध' आपका लिखा हुआ मौलिक नाटक है और आपने साहित्य देवता नामक एक सुन्दर गद्यकाव्य भी लिखा है। जिसके बारे में डा० हेमचन्द्र जोशी जैसे लोग भी बड़ी ऊँची राय रखते हैं।

चतुर्वेदी जी की कृतियों में कला की खोज करने वालों को कतई निराश होना पड़ेगा। उनमें तो 'फीलिंग' ही प्रधान है और जो एक परिगति का सौन्दर्य होता है, जो कवि श्रेष्ठ निराला की कविताओं में प्रकाशित होता है वह तो कहीं ढूंढ़ने पर भी न मिलेगा। साथ ही लफ्फ़ाजी (अर्थात् शब्द जाल) भी आपकी कविता में बहुत रहती है। परन्तु कविता के अन्दर से फूटने वाली आपकी रसधार फिर भी उसे स्थायी साहित्य की वस्तु बना देती है। हाँ, आपका गद्य सचमुच beautiful trash होता है और उसमें कहीं भी विचारोत्तेजकता न मिलेगी। गहराई, चिन्तन और मननशीलता का आपके गद्य में बिलकुल अभाव रहता है। कारण आप मूलतः कवि हैं और गद्य भी आपका कविता ही सा तरल और चमकीला होता है।

चतुर्वेदी जी की कवितायें बड़ी रससिक्त और मर्म-मधुर हैं। आ

उनकी जैसी व्यंजना से हिन्दी कविता बहुत आगे बढ़ आई है और दिन-प्रति-दिन प्रगतिशील है फिर भी उनका आधुनिक काव्यधारा में एक सुरक्षित स्थान है। उनकी ऐसी पंक्तियाँ

"मार डालना किन्तु सामने ज़रा खड़ा रह लेने दो।
अपनी बीती भी चरणों में कुछ भी तो कह लेने दो।

अथवा

"भोजन है उल्लास जहाँ आंखों का पानी पानी,
वहाँ काल के हाथों लूटी जाती नहीं जवानी

जो कच्चे दूध सी उज्ज्वल और मधुर हैं सदैव पढ़ने वाले के दिल और दिमाग में गूंजा करती हैं। उनकी मरण त्योहार और कैदी और कोकिला जैसी कवितायें हमारे दासता काल की अवशेष स्मृतियों सी अमर रहेंगी और इस कारागार प्रवासी कष्ट साधक कवि को भूलने न देंगी।

चतुर्वेदी जी शुरू से ही प्रगतिशील रहे हैं और उनकी कविताओं में वह प्रगतिशीलता हृदय की ज्वाला बन कर नहीं, वरन नयनों का पानी बन कर आई है। कहीं कहीं तो इतनी मस्ती उनकी कविता में है जो पाठक को विभोर कर देती है, यद्यपि भाषा कहीं कहीं उनके मोटे और दुरूमतम भावों का साथ नहीं दे पाती। फिर भी चतुर्वेदी जी ने बहुत लिखा है और हमारे साहित्य के युग निर्माता न होते हुए भी अपने एक विशेष स्कूल के नेता तो वे हैं ही।

मरण त्यौहार

नाश ने सागर-तरगें चीर कर,
गगन से भी कठिन स्वर गम्भीर कर,
तरलता का मधुर आश्वासन दिये,
किन्तु ओलों से इरादों को लिये—
सन्धि का सन्देश भेजा है यहाँ
पूछ कर—"किसके कलेजा है यहाँ?"
चमकते नक्षत्र थे, ग्रह भी पड़े,
हाँ सुधाकर थे, उतरते-से खड़े।
नाश का आकाश में तम-तोम था,
फैलकर भी विवश सारा व्योम था।
उस समय सहसा सफ़ेदी वह उठी,
मोम की दीपें सुलगती कह उठीं—
"नाशजी! नक्षत्र यदि लाचार हैं,
श्रीसुधाकर भी उतरते द्वार हैं,

"तो जलेंगी, तेल कर निज कामना,
आइये, मिटकर करेंगी सामना,
"जानती हैं, ज़ोर घर की वायु का,
"जानती हैं... [illegible] अपनी आयु का,
"अ[illegible] [illegible] कहो,
[illegible], मत कहो।

"जानती हैं—सब सबल के साथ हैं,
किन्तु रवि के भी हजारों हाथ हैं।
"वे कलेजे ही, कठिन 'तम' लाद कर,
अब स्मशानों को स्वयं आबाद कर,
'एक से लग एक हम जलती रहें,'
और बलि-बहिनें, बढ़ें, फलती रहें;
"सूर्य की किरनें कभी तो आयेंगी!
जलन की घड़ियाँ, उन्हें ले आयेंगी!"

* * *

थी जहाँ पर भट्टियाँ, सब बुझ प
विश्व में चिनगारियाँ आगे बढ़ी
देव, जीने दो विमल चिनगारि
ये चमकती आत्म-बलि की क्यारियाँ।
जग पड़ी वे तुच्छ-सी चिनगारि
कोटि कण्ठों को उन्हीं पर वारि

हैं हमें निर्वासनों में हरि मिला,
और तप करते विजय का वर मिला,
'तप करो, गड़बड़ करो मत, तप करो,
शान्ति में मत, क्रान्ति का आतप करो"
बंग-युग से, कोटि शिर झुकते जहाँ,
भूल पथ, उस पांडिचेरी ने कहा।

"ले कृषक-सन्देश, कर बलि-वन्दना,
ध्वज तिरंगे की किये बहु अर्चना,
"घूमता-चरखा लिये गिरि पर चढ़ो,
ले अहिंसा-शस्त्र आगे को बढ़ो,
"साबरमती पर क्यों न हमको नाज़ हो—
'अब जवाहर शीश मेरा ताज हो।"

"राजपथ की गालियाँ हमने सहीं,
प्रार्थनायें पुस्तकें रचकर कहीं,
"श्रेष्ठ है, वह विपिन है अपना अहा—
वध गजेन्द्रों का नहीं होता जहाँ!
"है रिपोर्टों में कलेजा छप रहा,"
देश के 'आनन्द-भवनों' ने कहा।

*　　　*　　　*

"कुर्सियों की है मधुर स्वाधीनता,'
छोड़ देंगे हम गुलामी, दीनता,
'थैलियाँ हों, दे सकें हम गालियाँ,
हो सकें साम्राज्य की 'घर-वालियाँ'"
देश का स्वातंत्र्य गर्वित था जहाँ—
पुण्य-पुर के केहरी-दल ने कहा!—

आगुवेश, चलो, !—जहाँ सहार है,
वन्य पशुओं का लगा बाज़ार है !
आज सारी रात फूकेंगे वहाँ,
मौन दोषों का 'मरण-त्यौहार' है !!

क़ैदी और कोकिला

क्या गाती हो, क्यूं रह-रह जाती हो—कोकिल, बोलो
क्या लाती हो ! सन्देशा किसका है—कोकिल, बोलो तो

ऊँची काली दीवारों के घेरे में,
डाकू चोरों, बटमारों के डेरे में,
जीने को देते नहीं पेट-भर खाना,
मरने भी देते नहीं—तड़प रह जाना।

जीवन पर अब दिन-रात कड़ा प
शासन है, या तम का प्रभाव गहरा

हिमकर निराश कर चला रात भी काली,
इस समय कालिमामयी जगी क्यूं आली !

दना—बोझवाली सी—कोकिल, बोलो
भवकी रखवाली-सी—कोकिल, बोलो

बन्दी सोते हैं, है घर्घर श्वासों का,
दिनके दुख का रोना है निःश्वासों का,
अथवा स्वर है—लोहे के दरवाज़ों का,
बूटों का या सन्त्री की आवाज़ों का,

या करते गिनने वाले हा-हा-कार,
सारी रातों है—एक, दो, तीन, चार!

मेरे आँसू की भरी उभय जब प्याली,
बेसुरा!—(मधुर) क्यों गाने आई आली?

या हुई बावली, अर्द्ध रात्रि को चीखो—कोकिल, बोलो तो!
कस दावानल की ज्वालाएँ हैं दीखों—कोकिल, बोलो तो?

निज मधुराई को कारागृह पर छाने,
जी के घावों पर तरलामृत बरसाने,
या वायु-विटप वल्लरी चीर हठ ठाने–
दीवार चीरकर अपना स्वर अजमाने,

या लेने आई मम आँखों का पानी,
नभ के ये दीप बुझाने को है ठानी!

रा अन्धकार करते वे जग-रखवाली,
क्या उनकी आभा तुझे न भाई आली?

म रवि किरणों से खेल जगत को रोज़ जगाने वाली—
कोकिल, बोलो तो,

क्यों अर्धरात्रि में विश्व जगाने आई हो मतवाली—
कोकिल, बोलो तो !

दूबों के आँसू धोती, रवि-किरणों पर,
मोती बिखराते विन्ध्या के झरनों पर,
ऊँचे उठने के व्रतधारी इस वन पर,
ब्रह्माण्ड कँपाते उस उद्दण्ड पवन पर,

तेरे मीठे गीतों का पूरा लेखा,
मैंने प्रकाश में लिखा सजीला देखा;

तब सर्वनाश करती क्यों हो ? तुम जाने या बे-जाने,—
कोकिल, बोलो तो !

क्यों तमोपत्र पर विवश हुई लिखने मधुरीली तानें—
कोकिल, बोलो तो !

क्या ? देख न सकती जंजीरों का गहना ?
हथकड़ियाँ क्यों ? यह ब्रिटिशराज का गहना !
गिट्टी पर ? अँगुलियों ने लिक्खे गान !
कोल्हू का चरख चूँ ?—जीवन की तान।

हूँ मोट खींचता लगा पेट पर जूआ,
खाली करता हूँ ब्रिटिश अकड़ का कूँआ।

दिन में मत करुणा जगे, रुलाने वाली,
इसलिये रात में गजब ढा रही आली ?

इस शान्त समय में अन्धकार को भेद रो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो !

चुपचाप, मधुर विद्रोह-बीज इस भाँति बो रही क्यों हो—
कोकिल, बोलो तो ?

काली तू रजनी भी काली,
शासन की करनी भी काली,
काली लहर, कल्पना काली,
मेरी काल-कोठरी काली,

टोपी काली, कम्बल काली,
मेरी लोह-शृंखला काली,

पहरे की हुंकृति की व्याली,
तिस पर है गाली ! ऐ आली !

इस काले संकट-सागर पर—मरने की मदमाती—
कोकिल बोलो तो !

अपने चमकीले गीतों को किस विधि हो तैराती—
कोकिल बोलो तो ?

तुझे मिली हरियाली डाली,
मुझे नसीब कोठरी काली,
तेरा नभ भर में संचार,
मेरा दस फुट का संसार ।

तेरे गाने उठती वाह,
रोना भी है मुझे गुनाह !

देख विषमता तेरी मेरी;
बजा रही तिस पर रणभेरी !

ति पर, अपनी कृतिसे, और कहो क्या कर दूँ ?—
कोकिल, बोलो तो !

वृत पर, प्राणों का आसव किस में भर दूँ—
कोकिल, बोलो तो !

फिर कुहू—अरे क्या बन्द न होगा गाना,
यह अन्धकार में मधुराई दफ़नाना !
नभ सीख चुका है कमज़ोरों को खाना
क्यों बना रहा अपने को उसका दाना ?

तिस पर, करुणा-ग्राहक बन्दी सोते हैं,
स्वप्नों में स्मृतियों श्वासों से धोते हैं !

सीकचे-रूपिणी लोहे की पाशों में,
क्या भर देगी? बोलो निर्दिन लाशों में

जायेगा रुदन तुम्हारा निश्वासों के द्वारा—
कोकिल बोलो तो !

में हो जावेगा उलट-पुलट जग सारा—
कोकिल बोलो तो !

"कुंज कुटीरे यमुना तीरे"

पगली तेरा ठाट, किया है रत्नाम्बर परिधान।
अपने काबू नहीं और यह सत्याचरण विधान॥
उन्मादक मीठे सपने ये और अधिक मत ठहरें।
साक्षी न हो न्याय-मन्दिर में कालिन्दी की लहरें॥

डोर खींच मत शोर मचा,
मत बहक लगा मत जोर।
माझी, थाह देख कर आ तू,
मानस-तट की ओर॥

कौन गा उठा? अरे करे मत ये पुतलियाँ अधीर।
इसी कैद पर बन्दी हैं वे श्यामल-गौर शरीर॥
पलकों की चिक पर हलाल के छूट रहे फव्वारे॥
निश्वासें पंखे झलती हैं, उनसे मत गुंजारे॥

यही व्याधि मेरी समाधि है,
यही राग है त्याग।
क्रूर तान के तीखे शर मत,
छेदें मेरे भाग॥

* * *

काले अन्तस्तल से फूटी कालिन्दी की धार।
पुतली की नौका पर लाई मैं दिलदार उतार॥
बादबान तानी पलकों ने—हा यह क्या व्यापार!
कैसे ढूँढूँ! हृदय-सिन्धु में, छूट पड़ी पतवार॥

भूली जाती हूँ अपने को,
प्यारे मत कर शोर
भाग नहीं, गह लेने दे,
तेरे अम्बर का छोर ॥

अरे, बिकी बेदाम कहाँ मैं हुई बड़ी तकसीर।
धोती हूँ, जो बना चुकी हूँ पुतली में तस्वीर ॥
डरती हूँ दिखलाई पड़ती तेरी उसमें वंशी।
'कुँज-कुटीरे यमुना-तीरे' तू दिखता यदुवंशी ॥

अपराधी हूँ मंजुल मूरत, ताकी ?
हरि ! क्यों ताकी ?
वनमाली ! मुझ से न मिटेगी,
ऐसी बाँकी झाँकी ॥

अरी खोद कर मत देखे, ये अभी पनप पाये हैं।
बड़े दिनों में, खारे जलसे कुछ अंकुर आए हैं।
पत्ती को मस्ती लाने दे, कलियाँ कढ़ जाने दे।
अन्तरतम को अन्त चीर कर अपनी पर आने दे ॥

ही-तल बेध समस्त खेद तज,
मैं दौड़ी आऊँगी।
'नील-सिन्धु-जल-धौत-चरण' पर
चढ़ कर खो जाऊँगी।

श्री सुमित्रानन्दन पन्त

पन्त जी का जन्म सम्वत् १९५७ में अल्मोड़ा जिले में हुआ। इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में बी०-ए० में पढ़ते समय ही आपने एक राजनैतिक सभा में महात्मा गांधी की युगवाणी सुनकर पढ़ना छोड़ दिया। परन्तु अपनी स्वप्नदृष्टि और स्वभाव सुलभ कोमलता के कारण राजनीति के संघर्ष भरे जीवन में आप भाग न ले सके। तब से आप विशुद्ध साहित्यिक जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

पन्त जी रहस्यवादी कविता स्कूल के कदाचित् निराला जी के बाद सबसे प्रमुख कवि हैं। हिन्दी के युगान्तरकारी कवियों में श्रेष्ठ और अपने स्कूल के प्रतिनिधि कवि हैं। कोमलता इनकी रचना का प्रधान माधुर्य है। यहाँ तक कि जहाँ बहुत से कवियों में उसका अन्त हो जाता है वहाँ से इनमें उसका आरम्भ होता है। इनकी कविता पर रवीन्द्रबाबू, शैली और कालिदास और कहीं कहीं अन्य कल्पनावादी संगीत कवियों की स्पष्ट छाप है। यही कारण है कि बहुत सम्भव तक उन्होंने आह में संगीत का अनुभव किया है। हिन्दी कविता के संक्रान्ति काल में नये युग के प्रवर्तन का श्रेय निराला जी के साथ इन्हें मिल चुका है और फिर हिन्दी कविता में जो एक इन्किलाबी और नूतन प्रवाह आया है उसका नेतृत्व करने की भी पन्त जी चेष्टा कर रहे हैं। परन्तु यह तो भविष्य ही साबित करेगा कि अपने इस नवीन अभियान में वे कहाँ तक सफल हुए। आज उनकी कविताओं में मार्क्सवाद की स्पष्ट झलक है रूसी साम्यवाद का रणनाद भी उनकी कृतियों में फूटना चाहता है।

पन्त जी ने अपनी पूर्वकृतियों में प्रकृति की आत्मा से साक्षात करके उसका वर्णन किया है। पहाड़ी झरने से छनछना कर प्रवाहित होने वाले कल कल उल्लास का उनकी कविता में बोध होता है। ऐसा प्रतीत होता है जैसे प्रकृति का सारा प्रकाश, जीवन की सामुद्रिक कोमलता कवि की रचनाओं में जलधारा की उर्मियों के समान अस्खलित, अविद्रुत रूप में संगीत सी फूट पड़ी हो। पन्त जी चारों ओर एक हारमनी, एक कोमल कान्त तन्मयता देखते हैं और यही कारण है कि उनकी कविता का प्रवाह क्रमशः मीठा, तरल, तल्लीन और द्रुततर होता जाता है। अनुभूति मानों उनके स्वरों और मीड़ों में गमक और मूर्छनाओं में आप से आप झलमलाती है। संस्कृत, अँगरेजी और बँगला के अच्छे जानकार होने के कारण उनकी भाषा में एक विचित्र लोच है और उनकी स्वभाव सुलभ कोमलता और मैनरिज़्म (mannerism) जैसे ज्यों की त्यों आकर उनकी कृतियों में समाहित हो गई हो।

पन्त जी ने कई प्रकार के नूतन छन्दों की भी सृष्टि की है। विश्व के प्रत्येक संकेत में, प्रत्येक उद्गार में उन्हें एक परिणति दीख पड़ी है। और शब्दों की सीमित संकेत-अभिव्यक्ति के द्वारा वे एक रागिनी की भाँति उस ओर उड़े हैं। कल्पना में प्रत्यक्ष की सी प्रतीति करके वे स्वतः जो आनन्द लेते हैं अपने पाठकों और श्रोताओं को भी वही प्रदान करते हैं। साथ ही पन्त जी की कविता में अत्यन्त उच्चकोटि का मानवीय प्रकाश है। गुंजन की अधिकांश कवितायें इस आलोक से चमत्कृत हैं। पल्लव यों तो पन्त जी का सर्वोत्कृष्ट काव्य है परन्तु गुँजन और युगान्त में उनके जो मानस के कशाघात है और अनुभूति की जो दर्दमयी तस्वीरें है वे भी अपूर्व हैं।

पन्त जी हिन्दी के कोमलकान्त सुमधुर गीति विहग हैं। उनकी समस्त काव्य सृष्टि ही मानों सुन्दरता, कोमलता, मधुरता और आत्मीयता की साधना है। आज यद्यपि पन्त में सामाजिक राज-

नैतिक और इन्क़िलाबी भावना जग आई है परन्तु हृदय की तह में सुकुमार अनुभूतियों का ही अमृत रव है जिसमें विश्वनारी की ममता और मोह है। आज नव जाग्रत युग की धमनियों के रक्त प्रवाह को पहिचान कर पन्त जी यद्यपि चौंक पड़े हों और इस नवीन रणनाद में अपना प्रीति सुकोमल कन्ठ मिला चले, हाँ परन्तु उनकी सरला कविता बालिका का हृदय ज्यों का त्यों बना है।

'गुंजन' में कवि की कविता का अत्यन्त मानवीय रूप प्रकट हुआ है। उस समय कदाचित पन्त जी को अपने प्रगतिशील होने की चेतना नहीं थी। यही कारण है कि उन्होंने हमारे यथार्थ सुख दुःख मय जीवन संगीत को ही गुनगुना दिया। दुःख में काँटों से छिदकर और सुख के मधु में छक कर उन्हें जो जीवन का अन्तर गान मिला था उसे उन्होंने अपने कवित्व उन्मेष के साथ हमारे सामने रख दिया। हाहाकार पूर्ण उत्पीड़ित संसार पर भी उनकी दृष्टि पड़ी और उनकी वाणी में विश्व वेदना का संतप्त स्वर गूंजने लगा, ऐसा प्रतीत हुआ जैसे चन्दन के वन में आग लग गई। पार्वत्य निर्झर एकाएक एक तीखी बिजली से, एक अविराम ज्वाला खोलते हुए तर उग्र हो।

इसके बाद फिर धीरे धीरे पन्त में विचारक जागा। युगान्त में वे इसी रूप में हमारे सामने आये। आत्मा के भीतर से शाश्वत सुख शान्ति पाने के लिये उन्होंने आत्म चिंतन की प्रेरणा पाई और अवरोप मध्य युगीन निराशा की ट्रैजेडी मानो थोड़ी देर के लिए छोड़कर वे जागरण के एक शरद प्रभात के नीचे आ गये। यही कारण है कि युगान्त की कविताओं में इस पीड़ित युग की चेतना मानो आँखें खोल कर उठ बैठी और वह्नि की भाँति जीवन की चिर मंगल सूत्र रक्षा बन्धन में मुक्ति का स्वर्ण सन्देश देती हुई जीवन की तमिस्रवेणी में प्रकाश कणों के बाँधने का आग्रह कर उठी। पन्त

के काव्य में इस समय भी प्रेम की प्रेरक प्रवृत्ति वही है-प्रकृति भी वैसी ही है परन्तु उपादान अवश्य बदल चले हैं।

और अब पन्त जी की काव्यधारा ने फिर एकद्रुत मोड़ लिया है। उन्हीं में क्यों, अपेक्षाकृत लघुवयस्क और तरुण कवियों (बच्चन, अंचल आदि) की चिन्ताधारा और 'इक्सप्रेसन' में एक नयी रेखा आई है। परन्तु पन्त जी जितने 'रेडिकल' हो गये हैं उतने ये लोग नहीं हो पाये। प्रश्न यह है कि क्या पन्त जी अपने इस इक्सपेरीमेन्ट में सफल हो जांयगे। पन्त जी शायद सोचते हों कि बुर्जुआ समाज ही जब न रहेगा तब बुर्जुआ साहित्य ही कैसे जीवित रहेगा। परन्तु पन्त जी का यह ख्याल गलत होगा। रूस में आज भी बुर्जुआ साहित्य जीवित है और कदाचित रहेगा। फिर भी इस नये क्षेत्र में हम पन्त जी का स्वागत ही करेंगे। एक मँजे हुए काव्य स्रष्टा होने के कारण वे जो भी लिखेंगे उनके व्यक्तित्व से सुअंकित होगा; मगर अभी तो उनकी मार्क्सवादी रचनायें पढ़ कर यही ज्ञात होता है जैसे सिर्फ किताबें पढ़कर और सिद्धान्त विश्लेषण करके ही वे लिख रहे हों—फीलिंग तो अभी उनमें आया नहीं।

तीन कविताएँ

मुझे रूप ही भाता।
प्राण! रूप ही मेरे उर में
मधुर भाव बन जाता।
मुझे रूप ही भाता।
जीवन का चिर सत्य
नहीं देसका मुझे परितोष
मुझे ज्ञान से वस्तु सुहाती,
सूक्ष्म बीज से कोष।
सच है, जीवन के वसंत में
रहता है पतझार,
वर्ण-गंधमय कलि-कुसुमोंका
पर ऐश्वर्य अपार।
राशि राशि आनंद, प्रेम,
सुन्दरता का आगार
मुझे लुभाता रूप-रंग
रेखा का यह संसार।
मुझे रूप ही भाता।
प्राण! रूप का सत्य
रूप के भीतर नहीं समाता।
मुझे रूप ही भाता।

झंझा में नीम

सर् सर् मर् मर्
रेशम के से स्वर भर,
घने नीम दल
लंबे, पतले, चंचल,
श्वसन स्पर्श से
रोम हर्ष से
हिल हिल उठते प्रतिपल !
वृक्ष शिखर से भू पर
शत शत मिश्रित ध्वनि कर
फूट पड़ा लो, निर्झर—
मरुत—कम्प्र, भर !
झूम झूम, झुक झुक कर
भीम नीम तरु निर्भर
सिहर सिहर थर् थर् थर
करता सर् मर्
चर् मर् !
लिप पुत गए निखिल दल
हरित गुंज में ओझल,
वायु वेग से अविरल
धातु पत्र से बज कल !

सिसक, सिसक साँसें भर,
भीत, पीत, कृश, निर्बल,
नीम दल सकल
झर झर पड़ते पल पल !

दो मित्र

उस निर्जन टीले पर
दोनों चिलबिल
एक दूसरे से मिल,
मित्रों से हैं खड़े,—
मौन, मनोहर !
दोनों पादप
सह वर्षातप
हुए साथ ही बड़े
दीर्घ, सुदृढ़तर ।
पतझर में सब पत्र गए झर,
नग्न, धवल शाखों पर
पतली, टेढ़ी टहनी अगणित
शिरा जाल सी फैलीं अविरल !
तरुओं की रेखा छवि अविकल

भू पर कर छायांकित।
नील निरभ्र गगन पर
चित्रित दोनों तरुवर
आँखों को लगते हैं सुन्दर
मन को सुखकर!

लोगी मोल

लाई हूँ फूलों का हास,
लोगी मोल, लोगी मोल?
तरल तुहिन-वन का उल्लास
लोगी मोल, लोगी मोल?

फैल गई मधु-ऋतु की ज्वाल
जल-जल उठती वन की डाल;
कोकिल के कुछ कोमल बोल
लोगी मोल, लोगी मोल?

उमड़ पड़ा पावस परिप्रोत,
फूट रहे नव-नव जल-स्रोत,
जीवन की ये लहरें लोल
लोगी मोल, लोगी मोल?

विरत जलद-पट खोल, अजान
छाई शरद - रजत - मुसकान,
यह छवि की ज्योत्स्ना अनमोल
लोगी मोल, लोगी मोल ?
अधिक अरुण है आज सकाल—
चहक रहे जग-जग खग-बाल;
चाहे, तो सुन लो जी खोल,
कुछ भी आज न लूँगी मोल !

मौन-निमन्त्रण

स्तब्ध ज्योत्स्ना में जब संसार
चकित रहता शिशु-सा नादान,
विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते हैं जब स्वप्न अजान;
न जाने, नक्षत्रों से कौन,
निमन्त्रण देता मुझको मौन !

सघन मेघों का भीमाकाश
गरजता है जब तमसाकार;
दीर्घ भरता समीर निःश्वास,
प्रखर झरती जब पावस-धार;
न जाने, तपक तड़ित में कौन,
मुझे इंगित करता तब मौन !

देख वसुधा का यौवन-भार
गूँज उठता है जब मधुमास,
विधुर उर के-से मृदु उद्गार
कुसुम जब खुल पड़ते सोच्छ्वास;
न जाने, सौरभ के मिस कौन,
सँदेसा मुझे भेजता मौन!

क्षुधा जल-शिखरों को जब बात
सिन्धु में मथ कर फेनाकार,
बुलबुलों का व्याकुल संसार
बना, बिथुरा देती अज्ञात,
उठा तब लहरों से कर कौन,
न जाने, मुझे बुलाता मौन!

स्वर्ण, सुख, श्री, सौरभ में भोर
विश्व को देती है जब बोर
विहग-कुल की कल-कण्ठ हिलोर
मिला देती भू-नभ के छोर;
न जाने, अलस-पलक-दल कौन,
खिला देता तब मेरे मौन!

तुमुल तम में जब एकाकार
ऊँघता एक साथ संसार,
भीरु झींगुर-कुल की झनकार
कँपा देती तन्द्रा के तार,

न जाने, खद्योतों से कौन
मुझे तब पथ दिखलाता मौन !

कनक-छाया में जब कि सकाल
खोलती कलिका उर के द्वार,
सुरभि-पीड़ित मधुपों के बाल
पिघल, बन जाते हैं गुंजार,
न जाने ढुलक ओस में कौन
खींच लेता मेरा दृग मौन !

बिछा कार्यों का गुरुतर भार
दिवस को दे सुवर्ण अवसान,
शून्य शय्या में, श्रमित अपार,
जुड़ाता मैं जब आकुल प्राण,
न जाने, मुझे स्वप्न में कौन
फिराता छाया-जग में मौन !

न जाने कौन, अये, द्युतिमान !
जान मुझको अबोध, अज्ञान,
सुझाते हो तुम पथ अनजान,
फूँक देते छिद्रों में गान;
अहे सुख-दुख के सहचर मौन,

पलाश

मरकत वन में आज तुम्हारी नव-प्रवाल की डाल
जगा रही उर में आकांक्षाओं की ज्वाल!
पीपल, चिलबिल, आम्र, नीम की पल्लव-श्री-सुकुमार—
तुम्हीं उठाए हो पर वसुधा का मधु यौवन-भार!
वर्ण-वर्ण की हरीतिमा का वन में भरा विकास,
पर नव मधु की निखिल कामनाओं के तुम उच्छ्वास!
शत-शत पुष्पों के रत्नों की रत्नच्छटा पलाश!
प्रकट नहीं कर सकती यह वैभव-पुष्कल उल्लास!
स्वर्ण मञ्जरित आम् आज औ' रजत-ताम् कचनार,
नील कोकिला की पुकार है पीत भृङ्ग-गुञ्जार,
वर्ण स्वरों के मुखर तुम्हारे मौन पुष्प अंगार।
यौवन के नव रक्त, तेज का इनमें मदिर उभार।
हृदय-रक्त ही अर्पित कर मधु को, अर्पण श्री शाल!
तुमने जग में आज जला दी दिशि-दिशि जीवन-ज्वाल!

बालकृष्ण शर्मा 'नवीन'

नवीन जी हिन्दी के क्रान्तिकारी कवि हैं। उनका जीवन भी आरम्भ से ही एक विशुद्ध राष्ट्रीयतावादी तपस्वी का जीवन रहा है। अपने विद्यार्थी जीवन में ही आप प्रताप—सम्पादक स्वर्गीय गणेशशंकर विद्यार्थी के सम्पर्क में आये। उस समय आप बी० ए० के छात्र थे। परन्तु गणेश जी के प्रभाव से आप बच न सके और पढ़ना लिखना छोड़कर राजनीति में कूद पड़े। तब से आज तक आप बराबर उसी जोश, स्फूर्ति और धुन से देश-सेवा में तल्लीन हैं। बरसों प्रताप का सम्पादन करने के बाद अब आप उससे अलग हैं, परन्तु नियमित रूप से साप्ताहिक में ही कवितायें लिखते रहते हैं।

नवीन जी हमारे यहाँ राष्ट्रीय जागरण और आवेश के कवि हैं। सर्वप्रथम उनकी ही कविताओं में क्रान्ति की विप्लावक ज्वालायें दीखीं और तब से बराबर उनकी कविता प्रगति की ओर ही उन्मुख होती आई है। यह भी एक उल्लेखनीय बात है कि आज के हिन्दी के प्रगतिशील कवि जिस ओर जा रहे हैं और इन आने वालों में पन्त जी जैसे अग्रणी भी हैं, उस ओर नवीन आज से २० साल पहले आ चुके हैं और उनकी प्रगतिशीलता मार्क्सवाद की किताबें पढ़ कर प्राप्त की गई, नहीं वरन जीवन की कटुता दैन्य, निदारुण हाहाकार और प्रतिपग दीखने वाले असंतोष और असन्तोष की दहकाने वाली अनुभूतियों से फूटती है।

स्वाभाविकता, सरलता, रस तथा प्रवाह नवीन की ... में एक विचित्र ओज और निखार का सृजन करते हैं। एक ...

प्रनुप्राणित उनकी कवितायें कहीं मुरदों में भी जीवन फूकती हैं—
ां शिथिल और रसविहीन हृदय को रससिक्त और रोमांचित कर
ी हैं। यदि एक ओर—

'माता की छाती का अमृतमय पय कालकूट हो जाये सुनकर
र फड़कने लगता है तो दूसरी ओर—

'प्रिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न मन की हूक रे,

ूर रोमाँच भी हो आता है। ऐसा अदम्य उत्साह है इस
ाशा, आशा, मिलन विरह और निवृत्ति प्रवृत्ति के उद्‌भ्रान्त गायक
। अपने ढंग के नवीन जो प्रमुख, अनूठे, अलमस्त गायक हैं और
चारों ओर भावनाओं की तह में उत्कट साम्यवादी भी।
र उनमें एक ओर सावन के नवीन मेघों की सी गर्जना, ज्वालामुखी
विस्फोट है तो दूसरी ओर कामिनियों की सी सुमधुर स्वर संगीत
ा है जो हृदय को मदालस कर देती है। यह सच है कि कलाकार
ोचित संयम और नियन्त्रण उनमें नहीं है, भाषा और छन्द के
त्तों में वे उच्छृंल और स्वतन्त्र हैं। परन्तु यह सब न
ा तो उनकी कविताओं में यह उच्छृंल, पहाड़ी सरिता की
ेप धारा कहाँ से आती जो हृदय से टकराती, तोड़ती बह जाती
परन्तु जो भी है बहुत स्पर्शी और आघातकारी है।

नवीन की कविता पर उर्दू कविता का प्रभाव है। उर्दू भाषा का
और तर्ज़े बयान भी कहीं कहीं स्पष्ट होता है। कहीं कहीं
[illegible] के इतने गहरे स्तर में पहुँच जाते हैं कि विश्व का नाश
ने के लिये प्रकृति और नियति दोनों का सानंद आह्वान करते
हृदय के टूटे हुये तारों को लेकर, जीवन की [illegible],
[illegible] स्वर यातनाओं का वर्णन कर जो नवीन एक [illegible] की
[illegible] से विभोर हो उठते हैं तब उनकी कविता में [illegible] ही
[illegible] बन जाती है।

नवीन ने हिन्दी में कितने ही नये सुरों की सरिता बहाई है और कविता को एक नये ढङ्ग से सँवारा है। एक उल्लसित फक्कड़पन और कहीं कहीं एक संतप्त आत्म निवेदन ये दोनों उनकी कविता के प्रमुख गुण हैं। साथ ही नवीन ने कविता के फार्म और चिन्ताधारा दोनों के प्रति बग़ावत की है। यही नहीं, समाज जीवन और जगत की सारी संकीर्णताओं, परिधियों और नैतिकता शालीनता की तथा कथित मान्यताओं के प्रति वे शुरू से ही विद्रोही रहे हैं।

नवीन जी का जन्म सम्वत् १९५४ में ग्वालियर राज्य में शाजापुर ग्राम में हुआ। उज्जैन में प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त कर आप कानपुर चले आये—वहीं गणेश जी से परिचय हुआ और उन्होंने आपकी हर प्रकार से सहायता की और प्रताप के सम्पादकीय विभाग में रख लिया। कविताओं के अतिरिक्त आपने कुछ सुन्दर कहानियाँ भी लिखी हैं जिनमें 'मोई दीदी' उल्लेखनीय है। गद्य भी आप बहुत ज़ोरदार लिखते हैं। गद्य और पद्य दोनों में आपका उग्र किन्तु सरल *कठोर किन्तु सरस और सुकुमार किन्तु संघर्षमय व्यक्तित्व ही* प्रतिच्छायित होता है।

शरदनिशा

आज यह शरदनिशा बरसे—शर्वरीमें मधु रस सरसे,
आज यह शरद निशा बरसे;
चहा रुदन-गायन वह छन-छन मगन गगन सरसे,
चुई पड़ रही मधुमय पीड़ा सकल चराचरसे;
आज यह शरदनिशा बरसे;
दरस-परसकी सरस चाह चू रही कलाधरसे,
हँस—हँस कसक दान देते हैं निशिपति अम्बरसे;
आज यह शरदनिशा बरसे;
पियके दरस बिना कारागृहमें लोचन तरसे,
दरस कहाँ हम तो हैं बहुत दूर उनके घरसे,
आज यह शरदनिशा बरसे,
विलसित दिङ्मण्डल; हुलसा नभ शशि के मृदुकरसे,
मेरे काराके पादप भी हुए उजागर—से
आज यह शरदनिशा बरसे;
मन्थन फलस्वरूप आए तुम—शशि रत्नाकरसे,
तुम न मथो हिय, निकलेगा प्रतियोगी अन्तरसे;
आज यह शरदनिशा बरसे

———

कमलादेवी की स्मृतिमें

देवि, इतने ही दिनोंका क्या यहाँ आवास था यह ?
कौन जल्दी थी ? अभी तो शेष कुछ मधुमास था यह;
तोड़कर उस श्रृंखलाको जो पड़ी थी मृदुल पगमें,—
राजहंसिनि, उड़ चलीं इतनी सुबह अज्ञेय मगमें ?
हो गये सम्पूर्ण क्या तव काज सब इस अनित जगमें ?
चिर महा अभिनिष्क्रमणका कौन-सा उल्लास था यह ?

आत्म-आहुति के ज्वलित ये खेल तुमने खूब खेले;
हन्त ! शुचि आदर्शके हित कौन दुख तुमने न झेले ?
लो तुम्हारे स्वप्न-दृष्टा प्राणप्रिय अब हैं अकेले;
सुमुखि, इतने ही दिनोंका क्या तुम्हें अवकाश था यह ?

देवि, क्या उस पार गूँजी कान्हकी मुरली सलौनी ?
या कि क्रीड़ौत्सुक्य मिस खेली जगतसे दृग-मिंचौनी ?
आज अनहोनी हुई ऐसी, कभी जो थी न होनी;
और कुछ दिन तो रहोगी तुम, हमें विश्वास था यह।

कौन थीं तुम एक कोमल कल्पना-सी, निठुर जगमें ?
कौन थीं तुम सुमन-पँखुरी-सी विषम इस निर्यात मगमें ?
कौन थीं तुम भक्ति सी, नित नेह के हिय चिर-विलगमें ?
कौन थीं ? किस देशकी थी तव विचित निवास था यह ?

निराशा-सिकता कुपथमें अश्म-रेखा-सी सुभ्रां
वायु-कम्पनमें धवल-से हिम शिखर-सी तुम अशा
निपट अँधियारे गगन में ज्योति-रेखा-सी अकम्पि
आज, प्राणायामका क्या आखिरी निःश्वास था

डोले वालो

डोले वालो, बढ़े चलो तुम, छोड़ो अट-पट चाल,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको, मन का हाल-बिहाल, रे
बरखा ऋतु में सब सहेलियाँ मैके पहुँची जाय, रे,
बाबुल-घर से आज चली हम पिय-घर, लाज बिहाय, रे,
उनके बिन बरसाती रातें कैसे कटें अचूक, रे,
पिय की बाँह उसीस न हो तो मिटे न मन की हूक, रे,
डोले वालो बढ़े चलो तुम, आया सन्ध्या काल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको, छोड़ो अट-पट चाल, रे,
ढली दुपहरी, किरनें तिरछी हुई साँझ नजदीक, रे,
अभी दूर तक दीख पड़े है पथ की लम्बी लीक, रे,
आज साँझ के पहले ही तुम पहुँचा दो पिय-गेह, रे,
हम कह आई हैं इन्दर से : रात पड़ेगा मेह, रे,
घन गरजेंगे, रस बरसेगा, होगी सृष्टि निहाल, रे,
डोला लिये चलो तुम जल्दी, छोड़ो अट-पट चाल, रे,

बाहुल-घर में नेह भरा है, पर यों द्वैत-विचार, रे,
साजन के नव नेह-सलिल में, है अद्वैत-विहार, रे,
हृदय-हृदय से, प्राण-प्राण से, आज मिलें भरपूर, रे,
पिय-मय तिय, तिय-मय पियहों जब, तब हों संभ्रम दूर, रे,
दूर करो पथ के अन्तर का यह झट-पट जञ्जाल, रे,
डोले वालो, बढ़े चलो तुम, आया सन्ध्या-काल, रे, ॥३॥
घन गरजें तब हो न सजन-आलिंगन का संयोग, रे,
तो फिर, कैसे मिट सकता है, हिय का अतुल वियोग, रे,
जब झनकारें अमित झिल्लियाँ, हो दादुर का शोर, रे,
तब हम हुलस कहेंगी उनसे : तुम्हरा ओर न छोर, रे,
डोले वालो, कोयल कुहकी हरित आम की डाल, रे,
सजन-भवन पहुँचा दो हमको, आया सन्ध्याकाल, रे, ॥४॥

बिंदिया

लघु केन्द्र-बिन्दु है क्या यह मेरी वेदना-परिधि का;
लोहित मोती यह क्या है, मम अतल-वितल वारिधि का।
कितने गहरे से उसको सुकुमारि, उठा लाई हो;
कितनी हिम-निधियाँ खोलो; तुम आज लुटा लाई हो।
क्या नृत्य-चतुर नयनों की है सुघड़ ताल की ठुमकी,
यह बिन्दी है सिंदुर की—या टिकुली है कुमकुम की।

भृकुटी-संचालन से ही यों उथल-पुथल होती
यह लगन विचारी यों ही अपनी सुध-बुध खोती
यह भ्रू-विलास तो था ही टिकुली भी आन पधा
भौंहों के मृदु फंदे में पड़ गई गाँठ सुकुमार
क्या सुन्दर साज सजा है मृदु नयनों की गाँसी क
है .खूब इकट्ठा सामाँ, इन प्राणों की फाँसी का
यौवन की सब अँगड़ाई, यह बिन्दुरूप बन आई
घूँघट के झीने पट से अरुणाभा छन-छन आई;
मानस की मदिर हिलोरें भर गई बूँद में आकर;
इठलाते अल्हड़पन को क्या ही छलकाया लाकर।
लोकोक्ति सदा सुनते हैं गागर में सागर भरना;
या एक बिन्दु में सजनी; देखा है सिन्धु लहरना।
सखि, गोरे भाल-क्षितिजपै यह अरुण इन्दु उग आया,
किस सुघड़ विधाता ने यह आरक्त बिन्दु छिटकाया।
इस एक बूँद में बाले, कितना विष भर लाई हो!
हिय कब से तड़प रहा है, क्या जादू कर आई हो!
जीवन-ऊषा की प्राची हो गई आज अरुणा-सी;
मेरी उत्कण्ठा सजनी, छिटकी लोहित करुणा-सी।
आकुल आँखों में छाई कुछ लाल-लाल झाईं-सी;
आकर देखो, यह क्या है टिकुली की परछाईं-सी।
बिंदिया की परछाईं का नैनों में अक्स उतारे;
कब से बैठी हूँ रानी, प्रतिबिम्ब हिये में धारे।

मत जाओ यों मुँह फेरे, अब यों आँखें न चुराओ ;
बिन्दी-विलसित मुख प्यारा घूँघट-पट में न दुराओ।
कितने भावों को मथ के सिंदूर बनाया तुमने ;
अलि, चलि कितनी ले ली है बोलो तो इस कुंकुम ने ;
संध्या की सकल अरुणिमा ऊषा की सारी लाली ;
हो सार-रूप बन आई यह एक बूँद मतवाली।
मेरी वेदना व्यथा की रंजित आरक्त कहानी ;
आँसू में धुल-धुल रानी, बिन्दिया बन गई सयानी।

भगवतीचरण वर्मा

वर्माजी हिन्दी में सब से निराले कवि हैं।—यहाँ तक कि
उनका अस्तित्व दीखने लगता है। उनका नाद जीवन को अपूर्ण
ओर ले जाने वाले हमारे आज के वैषम्य के प्रति एक विद्रोही का
विस्फोट है। वे एक अत्यन्त शक्तिशाली कवि हैं और उनका गद्य
द्य एक समान ज़ोरदार होता है। अपने साहित्यिक जीवन के आर
ही वर्माजी यथार्थवादी रहे हैं और आज तो वे प्रगतिशीलता
स्तुवाद की ओर जिस द्रुत गति से जा रहे हैं उसे देखकर यही कह
सकता है कि बहुत सम्भव है वे विप्लव के ताण्डव को अपने जीवन
में उतार सकें। जो हो, उसके सूत्रपात के स्वप्नदर्शी तो वे हैं ही। और
क्रान्ति का आह्वान आज उनकी कविताओं में फूट निकला है।

वर्मा जी शक्ति के उपासक कवि हैं। पन्त और महादेवी जी सा
वेदना और उल्लास का कोमल कान्त रस, निराला और प्रसाद का
सा दार्शनिक प्रकाश हमें भले ही उनकी रचनाओं में न मिले, परन्तु
मानव जीवन और अखिल सृष्टि के वैषम्य के और आशा-निराशा,
राग विराग और जीवन के संघर्ष और क्षण भंगुरता के वे हाहाकारी
गायक हैं। उन्मत्त पद्मा के हड़कम्पी प्रवाह सी गति उनकी कविता
में होती है और हिन्दी में प्रायः सभी श्रेष्ठ नवोदित कवि (बच्चन,
अंचल, दिनकर आदि) किसी हद तक वर्माजी की कविता से प्रेरित
हुए हैं। वर्माजी अपनी कविता में जिस वातावरण की सृष्टि करते
हैं, वह बड़ा ही तीखा, कड़ुआ और झल्लाहट से भरा होता है।

वर्माजी की कविता में मस्ती और बेखुदी कूट-कूटकर भरी है।
यौवन की सारी दुर्दमनीय निर्बन्धता और एक खानाबदोश का-सा
वीरानापन आपकी कृतियों का एक मौलिक गुण

वर्माजी का जीवन आरम्भ से ही संघर्षमय रहा है और उन्होंने कभी जीवन के सामने हार नहीं मानी है। उनके जीवन और उनके काव्य का रहस्य है गति। यही कारण है कि केवल कर्म, गति और वर्तमान में विश्वास करनेवाले इस कवि के काव्य में सावन-भादों की घहराती गङ्गा-सा प्रचण्ड प्रवाह है। उर्दू कवियों में 'जोश' मलिहाबादी और बँगला में 'बलाका' के गीत तथा नज़रुल इस्लाम को छोड़कर अन्य भाषा भाषी कवियों में भी शायद ही ऐसा ओज और प्रवाह मिले।

वर्मा जी की कविता में बड़ा व्यङ्ग है, बड़ी चुभन। उनका प्रेम-संगीत अपेक्षाकृत कोमल और मधुर रचना है। उनके शब्द मँजे हुये हैं, भाव व्यवस्थित हैं और विचार शृंखला क्रम-बद्ध है। साथ ही अस्पष्टता जो हमारे सर्वमान्य बड़े-बड़े कवियों और आचार्यों में भी मिलती है वर्माजी की कविता में रञ्चमात्र भी नहीं है।

प्रेम-संगीत में वर्माजी के गीत बड़े ही मधुर, विदग्ध और सौंदर्य से ओत प्रोत् हैं। कल्पनायें सुकुमार और चित्र जीवन्त तथा रङ्गीन हैं। परन्तु कहीं कहीं ऐसा तो ज़रूर प्रतीत होने लगता है कि शायद कवि केवल अपनी प्रतिभा और कौशल से बिना फील किये ही यह सब लिख रहा है। जो भी हो, उनके कुछ गीत तो अमर हैं और एक उच्च कोटि की रचना हैं।

वर्माजी की कविता में कला का यत्र-तत्र जो अभाव है वह उनके उपन्यासोंमें पूर्ण हो जाता है। उनमें दो उपन्यास 'चित्रलेखा' और 'तीन वर्ष' बड़े ही प्रभावोत्पादक और विचारोत्तेजक हैं। कहानियाँ भी वर्मा जी ने काफ़ी लिखी हैं और उनमें वर्माजी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप है।

इधर की कविताओं में वर्माजी घोर प्रगतिशील हो गये हैं और उनके दृष्टिकोण में जो जो परिवर्तन हुए हैं वे अभी उनके द्वारा लिखित 'विशाल भारत' में 'ग्राम्या' की आलोचना से स्पष्ट हो गये हैं। प्रगतिशील कवियों में वर्म्मा जी का स्थान सुरक्षित है और

सदैव रहा है। उनकी गद्य की कृतियाँ हमें चिन्तन देती हैं और क
ताएँ जीवन और समाज को एक नये ढंग से देखने की दृष्टि। आज
इधर बिलकुल हाल की कविताएँ इस बात का सबूत हैं। ऐसा प्रती
होता है कि अत्याधुनिक युग का प्रभाव उनकी कविता पर बहुत काफ़
पड़ रहा है। पग पग पर आनेवाली असफलता के आघातों से, विद्रोह
के संघर्ष से जो क्रन्दन और हाहारव हमारे दैनिक जीवन में फूटा पड़
रहा है और हमारे चारों ओर जो अध-नंगी अध-भूखी जीर्ण-शीर्ण
कङ्काल मूर्तियाँ उमड़-घुमड़कर जल-बुझ जाया करती हैं वे सब ज्यों
की त्यों वर्माजी के काव्य में उतरने लगी हैं। यह शुभ लक्षण है।

वर्माजी में एक दोष भी है। वे कविता में प्रचार करते हुए भी कहीं
कहीं दीखते हैं। यद्यपि आज का युग कला को मानवता के कल्याण
और विकास के लिये प्रचार ही मानता है और कला के लिये कला
कहने वालों के दिन जा रहे हैं, मगर कविता केवल प्रचार ही न होनी
चाहिये। उसकी एक मौलिक चैतन्य पूर्ण सत्ता होती है जो आघात
करती है और जिसकी बौद्धिकता और भावात्मक दिग्धता में कवि को
एक निर्लिप्तता और निस्संगता रखनी ही होगी। हमारे प्रगतिशील
कवियों को क्रान्ति और समाज के नवनिर्माण का स्वप्न देखते हुये भी
यह नहीं भूलना चाहिये।

पावसका यह धुँधला प्रभात

घिर रहा निराशा को लेकर
पावसका यह धुँधला प्रभात !

सिहरनको लेकर पुरवाई
बह रही व्यथासे अति चञ्चल;
लो उस तरुपर प्यासा चातक
है बोल पड़ा उन्मत्त विकल;
काली – काली मेघावलियाँ
हैं उमड़ रहीं दुखसे पागल,
तड़पे हैं सारी रात यहाँ
रो-रोकर जल-जलकर बादल !

है मैंने भी तो रो-रोकर
काटी वियोग की काल - रात !
घिर रहा निराशा को लेकर
पावसका यह धुंधला प्रभात !

हैं उमड़ रहीं सर-सरिताएँ
लहरों में ले उच्छ्वास भरे !
भू से अम्बर तक फैला है
आँसूका सकरुण लास अरे !

फिर भी बढ़ती ही जाती है
मेरी अनचाही प्यास अरे !

कितनी मेरे पास अरे !

तुमने जिस चितवन से मुझको
देखा था, उसको आँखों में—
सुकुमारि ! तुम्हारी उन सुरभित
साँसों को अपनी साँसोंमें

लाया था ! बदलेमें
तुमको अपना सब कुछ
ए तुम्हारी चितवनमें
अन्धकारका धुंधलापन ?

पर प्राण तुम्हारी साँसोंमें
किस मौन विवशताकी सिहरन ?
भरकर मानस में अन्धकार
लो सिहर उठा यह सकल गात !

घिर रहा निराशा को लेकर
पावसका यह धुँधला प्रभात !

———

(४)

शशि एकाकी मिटता रहता
रवि एकाकी जलता रहता,
मरु एकाकी आहें भरता,
हिम एकाकी गलता रहता;

कोयल एकाकी रो देती
कलि एकाकी मुरझा जाती

एकाकीपन में बनने का,
मिटने का क्रम चलता रहता।

एकाकीपन ही अपनापन

मैं अपने से मजबूर प्रिये!
उर शकित है, पग डगमग हैं,
तुम होती जाती दूर प्रिये!

भैंसागाड़ी

चरमर-चरमर—चूँ—चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

गति के पागलपन से प्रेरित
चलती रहती संसृति महान!
सागर पर चलते हैं जहाज,
अंबर पर चलते वायुयान!

भूतल के कोने-कोने में
रेलों ट्रामों का जाल बिछा,
हैं दौड़ रहीं मोटरें, बसें,
लेकर मानव का वृहद् ज्ञान!

पर इस प्रदेश में, जहाँ नहीं
उच्छ्वास, भावनाएं, चाहें,
वे भूखे अधखाए किसान
भर रहे जहाँ सूनी आहें,

नंगे बच्चे, चिथड़े पहने
माताएं जर्जर डोल रहीं,
है जहां विवशता नृत्य कर रही
धूल उड़ाती हैं राहें!

बीते युग की परछाहीं-सी
बीते युग का इतिहास लिये,
'कल' के उन तंद्रिल सपनों में
'अब' का निर्दय उपहास लिये !

गति में किन सदियों की जड़ता ?
मनमें किस स्थिरता की ममता ?
अपनी जजर-सी छाती में
अपना जर्जर विश्वास लिये !

भर भरकर फिर मिटने का स्वर,
कँप कँप उठते जिसके स्तर-स्तर,
हिलती डुलती, हँफती कँपती,
कुछ रुक रुककर, कुछ सिहर-सिहर

चरमर-चरमर—चूँ—चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी !

मैं कहता हूं खँडहर उसको
पर वे कहते हैं उसे ग्राम
जिसमें भर देती निज धुँधलापन
असफलता की सुबह-शाम,

पशु बनकर नर पिस रहें जहां
नारियाँ जन रहीं हैं ग़ुलाम,
पैदा होना फिर मर जाना,
बस यह लोगों का एक काम!

था वहीं कटा दो दिन पहले
गेहूँ का छोटा एक खेत!

तुम सुख-सुषमा के लाल, तुम्हारा
है विशाल वैभव विवेक,
तुमने देखी हैं मानभरी
उच्छृंखल सुन्दरियाँ अनेक,

तुम भरे-पुरे, तुम हृष्ट-पुष्ट,
ऐ तुम समर्थ कर्ता-हर्ता,
तुमने देखा है क्या बोलो
हिलता-डुलता कंकाल एक?

वह था उसका ही खेत, जिसे
उसने उन पिछले चार माह

अपने शोणित को सुखा सुखा
भर भर कर अपनी विवश आह
तैयार किया था औ' घर में
थी रही रुग्ण पत्नी कराह !

उसके वे बच्चे तीन, जिन्हें
माँ बाप का मिला प्यार न था,
जो थे जीवन के व्यंग;
जिन्हें मरनेका भी अधिकार न था,

वे क्षुधाग्रस्त बिलबिला रहे
मानों वे मोरी के कीड़े
वे निपट घिनौने महापतित
बौने, कुरूप, टेढ़े-मेढ़े !

उसका कुटुंब था भरा पुरा !—
आहों से हाहाकारों से,
फाकों से लड़ लड़कर प्रतिदिन
घुट घुट कर

तैयार !

३

है बीच फाँग पर एक नगर,
उस एक नगर में एक हाट,
भूखे नङ्गे या मरे, मरों
का तो मरना है उसको पर,
धन की दानवता से पीड़ित
कुछ फटा हुआ, कुछ फटेहाल,
घरमर-घरमर — घूँ — घरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी।
जिसमें मानव की दानवता
फैलाए है निज राज-पाट।
साहूकारों के परदे में
हैं जहाँ चोर भी, गिरहकाट,
है अभिशापों से सदा जहाँ
पशुता का कलुषित ठाट-बाट।
उसमें चाँदी के टुकड़ों के
बदले में लुटता है अनाज,
उन चाँदी के ही टुकड़ों से
तो चलता है सब राज-काज।
वह राज-काज, जो सधा हुआ
है इन भूखे कंकालों पर;

इन साम्राज्यों की नींव पड़ी
है तिल-तिल मिटने वालों पर !

वे व्यापारी, वे ज़मींदार,
वे हैं लक्ष्मी के परम भक्त,
वे निपट निरामिष सूदखोर
पीते मनुष्य का आज रक्त !

इस राज काज के वही स्तंभ
उनकी पृथ्वी, उनका ही धन;
ये ऐश और आराम उन्हींके
और उन्हींके स्वर्गसदन !

इस बड़े नगर का राग-रंग
हँस रहा निरंतर पागल-सा,
उस पागलपन से ही पीड़ित
कर रहे ग्राम अविरल क्रंदन !

चाँदी के टुकड़ों में विलास,
है चाँदी के टुकड़ों में बल,
इन चाँदी के ही टुकड़ों में
सब धर्म कर्म, सब चहल पहल,

इन चाँदी के ही टुकड़ों में
है मानव का कलित विलास !

चाँदी के टुकड़ों को लेने
प्रतिदिन पिसकर भूखों मरकर
भैंसागाड़ी पर लदा हुआ,
जा रहा चला मानव जर्जर,

है उसे चुकाना सूद कर्ज़,
है उसे चुकाना अपना कर!
जितना ख़ाली है उसका घर
उतना ख़ाली उसका अंतर!

नीचे चलने वाली पृथ्वी,
ऊपर जलने वाला अंबर,
औ' कठिन भूख की जलन लिये
नर बैठा है बन कर पत्थर!

पीछे है पशुता का खँडहर,
दानवता का सामने नगर,
मानव का कृश कंकाल लिये
चरमर-चरमर—चूँ—चरर-मरर
जा रही चली भैंसागाड़ी!

[यह कविता कवि ने अपनी पैंतीसवीं वर्षगाँठ के दिन लिखी थी]

(१)

मैं सोच रहा हूँ मौन, सामने
है प्रात: की प्रथम किरण !
आगे है अनजाना भविष्य,
पीछे है भूला-सा अतीत ;
दिन आये, फिर रातें आयीं,
पैंतीस वर्ष यों चुके बीत !
पैंतीस वर्ष निर्बलताके,
पैंतीस वर्ष असफलताके,
पैंतीस वर्ष तिल-तिल मिटने
की इस उद्भ्रान्त विवशताके !
'पैंतीस वर्ष का ज्ञान विशद'—
जीवन की केवल एक जीत !
मैं सोच रहा, जीवन गति है ;
फिर क्यों हैं मेरे शिथिल चरण ?

(२)

मैं सोच रहा हूँ मौन, सामने
पड़ा हुआ जग का आँगन !
हो रहा निपट अनजानोंमें
कुछ अनजाना-सा मेल यहाँ,

एकपल-जान—मैं देख रहा
केवल पल भर का खेल यहाँ !

यह मेल और यह खेल भरे—
है यह सब क्यों ! है यह सब क्या ?
क्यों जागृति की कसकन का युग
बनता पल-भर का सुख-सपना ?

यह भरा हुआ मदहोशी से
पुलकित दो प्राणोंका बन्धन,
वह सब पुलकन, वह प्रेम-मिलन
कोमल हिरदयका आलिंगन
क्यों एक निमिष में बन जाता—
प्राणों का असह करुण-क्रन्दन ?

भी मिली मुझे क्यों वह ममता ?
मेरी छोटी-सी अभिलाषा
पर था उसका जीवन अर्पित,
उसकी श्रद्धापर, पूजापर
मैं रह जाता था मौन, चकित ;

यह त्याग-भरा अनुराग लिये,
ज कोमल भाग लिये,
मानस के हिमकी
मधु की आग लिये ;

मुझमें निज बल भर देती थी;
जब हो जाते थे प्राण थकित !

मेरे सुखमें था उसका सुख;
मेरे दुख में था उसका दुःख;

मेरे कानोंमें गूँज रहा
है उसका सकरुण कातर स्वर—
"बिछुड़नकी ही आशंकामें
प्रिय उठते मेरे प्राण सिहर !"

फिर पत्थर बनकर मैंने ही
उसका तिल-तिल मिटना देखा,
रख चुका चितापर हूँ उसको
जिसने था मुझको प्यार किया !

करुणामयि तुम अयि देवि उमा !
मैं पूछ रहा—तुम कौन, कहाँ ?
तुम क्यों आईं, क्यों चली गईं ?
क्या फिरसे भी मिलना होगा ?
क्या हम पहिचान सकेंगे भी ?

मैंने तो देखा था शरीर—
वह तो जलकर बन राख चुका;
आत्मा !—क्या पहचानूँगा ? जब
निजको न स्वयं पहचान सका ।

मैं पूछ रहा मेरे उरमें
क्यों भार बन गई यह ममता ?
इन अपलक आँखोंके आगे
है एक अजब-सा सूनापन !

(२)

मैं सोच रहा हूँ मौन, सामने
है सोया सा अपनापन !
मैं क्यों आया हूँ ? और यहाँ
पर है मुझको क्या-क्या करना,
जीनेके प्रति पग पर कितनों
का देख रहा हूँ मैं मरना !
मेरे सुख - वैभवको घेरे
हैं कितने दलितों की आहें,
मैं देख रहा प्रत्येक हँसी
पर अनगिनती साँसें भरना !
मैं पूछ रहा हूँ अपनेसे,
मैंने कब सोचा बुरा-भला ?
क्यों अहम्मन्यता से कलुषित
है यह मेरी साहित्य - कला ?
जो थे प्राणोंसे प्रिय मुझको
वे छोड़ चले मुझको रोता,

फिर व्यर्थ मोह का यह बन्धन
फिर व्यर्थ यहाँ सारी ममता !
पथ-भ्रष्ट मुझे कर रही यहाँ
है क्यों यह मेरी कायरता ?

सुनकर सबलोंकी हुंकारें
सुनकर निबलोंकी चीत्कारें,
सुनकर पशुताकी ललकारें
क्यों मौन, विवश है मानवता ?

हैं आज हृदय में कसक रहे
मेरे इन पैरों के बन्धन !

सुश्री महादेवी वर्मा

महादेवी जी हिन्दी की सरोजिनी नायडू और कामिनी राय हैं। हिन्दी के जिस युग में ऐसी उच्चकोटि की कवयित्री उत्पन्न हो, वह युग किसी भी देश के किसी भी स्वर्णयुग से होड़ ले सकता है।

महादेवी जी प्रयाग-विश्वविद्यालय की प्रतिभाशालिनी छात्रा रही हैं। संस्कृत में एम० ए० करके इस समय आप प्रयाग के महिला-विद्यापीठ में प्रधानाध्यापिका हैं। कुछ अरसे तक चांद का सम्पादन करके आपने अपनी परिष्कृत गद्य-शैली का परिचय दिया। उनके जैसा 'प्रोज़' लिखना भी कुछ ही कवियों के लिये संभव हुआ है।

श्रीमती वर्मा की कविता में अत्यन्त परिमार्जित रुचि का छायावाद बड़े ही सुकुमार प्रतीक लेकर, बड़ी कोमलता के साथ, प्रस्फुटित और पूर्ण विकसित हुआ है। उनमें वह प्रतीक विधायिनी प्रतिभा है जो कैसी भी अस्पष्ट और धुँधली भावनाओं और तस्वीरों को मूर्तरूप दे सकती है। इतनी कोमल कल्पना पन्त छोड़ कर और किसी कवि में नहीं है। कारण, उन पर संस्कृत और अँगरेज़ी में शैली, रोज़ेटी आदि अलंकारिकता भाषा शैली और भाव-धारावाले कवियों का भी प्रभाव पड़ा है।

दुःख और निराशा जितनी श्रीमती वर्माजी की कविताओं में प्रकट हुई है उतनी अन्य कवियों में बच्चन और अञ्चल को छोड़कर अन्य किसी में नहीं। कारण श्रीमती वर्माजी का प्रियतम अलख और अदृश्य रहकर भी प्रतिक्षण उनकी आत्मा को आंच को परिचालित किये रहता है। यही कारण है कि उनके काव्य में इतनी विदग्धता है

और उनमें शब्दों और वाक्यों में एक विशेष 'टोन' आई है जो सर्वथा उन्हीं की है। इस दृष्टि से महादेवी जी इस संग्रह में आनेवाले अन्य सभी कवियों की भांति अपनी अलग शब्द-योजना और वाक्यांशों का घुमाव रखती है। उनके नीरजा और सान्ध्यगीत ने न जाने कितने नवयुवकों में गेय गीतों का प्रचार किया। महादेवी जी ने अपनी आंगारिक करुणा को केवल रूप ही नहीं वरन् अरूप की छवि भी दी है। और यही कारण है कि उनकी जिन पंक्तियों में आत्मा का करुण आध्यात्म व्यक्त हुआ है वे बड़ी ही सजीव होकर हमारी आंखों से होकर नीचे उतर गई हैं।

महादेवी जी की कविता में मीरा के प्रेम की गर्मी, कृष्ण की वंशी का संगीत और बुद्ध, ईसा जैसे महापुरुषों से ली गई करुणा का सौंदर्य है। 'प्रिय' की उपासना करने की उनकी जो एक उल्लास भरी शैली है उसकी स्नेहस्निग्ध छाया में जैसे सारा वस्तु जगत उल्लसित हो उठता है। और साथ ही उनकी ऐसी पंक्तियां भी हैं।

> तुम मानस में बस जाओ छिप दुःख के अवगुंठन से
> मैं तुम्हें ढूंढ़ने के मिस, परिचित हो लूं कण-कण से

यह असीम की प्यास, विराट में अन्वेषण की भूख भी उनमें छिपी है। बहिर्जगत और अन्तर्जगत दोनों में जिसकी मधुरमयी पुनीत सत्ता का प्रकाश फैला हुआ है वह प्रलय और सृष्टि दोनों का रचना-वैचित्र्य ही तो है। रवि बाबू के शब्दों में महादेवी जी की कविता के लिये हम कह सकते हैं—"बन्धन अपनी मुक्ति खोजता फिरता है और मुक्त बन्धन में अपने आवास की भिक्षा मांगता है! संक्षेप में महादेवीजी में करुण अध्यात्म का यही रहस्य है।

परन्तु एक बात मीरा से महादेवी जी की तुलना देते समय हमारे

आलोचक भूल जाते हैं कि महादेवी जी छाया है और मीरा प
थी—अपनी सम्पूर्ण हस्ती को लेकर जलनेवाली, जिसमें वि
सारा कल्याण, कर्दम और अन्धकार धू धू करके जल जाता
भूल जाते हैं कि मीरा सत्य थी, महादेवी जी सुन्दर हैं। ही
दोनों में है, परन्तु मीरा के गीतों में जो यथार्थता है वह
नहीं है। मीरा में ऐसे पद—

राणाजी मैं तो गिरिधर के घर जाऊँ,
रात रहे जब ही उठ जाऊँ भोर भये घर आऊँ।
मेरी उनकी प्रीति पुरानी उन बिन पल न रहाऊँ।

अथवा

श्याम मोंसों आँहू डोले हो
औरन की छतिया छुवत मोंसों मुख हून बोले हो।

वासना की यह आग अगर इतना काव्य-सौंदर्य लेकर
के गीतों में जल उठती, तो संपूर्ण भारत अपनी इस '
आगमन से कृत् कृत्य हो उठता। परन्तु जैसा ऊपर कहा
जो अन्तर कबीर और रवीन्द्र में है—कमोबेश वही
महादेवी में।

विश्व में अनन्त दुःख, उद्गार और रहस्यमयी
चित्रण महादेवी जी की कविताओं में है। उनकी दृष्टि में
दुःख दोनों अपने 'असीम प्रियतम' से मिलने के साधन
उस आध्यात्मिक लोक की वेदना में जितनी प्रखरता
है, वह सब उनकी कविताओं में उतर आई है। यहाँ
सारे संसार का आलोक बुझ जाता है तब भी कवि का
जला करता है।

[illegible] है पुजारिनी हैं। उन्हें तो यह

प्रियतम से वियोग है। यह अगाध नक्षत्र-मंडल दुख का ही एक अति विराट आवरण है, जिसके नीचे संसार अबोध बालक की भाँति करुणा विगलित हो सो रहा है। यहाँ वे भी एक विधि की विडम्बना से चली आई हैं। परन्तु वे अपने परमाराध्य को नहीं भूल सकीं। उसी के महाराधन में उनकी विकल आत्मा अहर्निश तन्मय है। उनके सारे गीतों का मूल यही है।

हिन्दी को अपनी इस भावनामूलक कलाकार से बहुत आशाएँ हैं। हमारे यहाँ हिन्दी के साहित्यकारों की रचनाओं के अँगरेजी तथा अन्य भाषाओं में अनुवाद नहीं हो पाते। वरना हमारा विश्वास है महादेवी जी के काव्य-ग्रन्थ किसी भी भाषा में अनूदित होकर उसे गौरवान्वितही करेंगे। जो प्रिय के स्वप्नलोक में पहुँचकर भी अपने दुःख को अपने ही पास छाती से लगाये रहे और नित सन्तान की भाँति उसका पालन करे, वह कवयित्री कितनी ऊँची है यह आज का हिन्दी संसार साबित कर चुका है। महादेवीजी की ख्याति ठोस है और उनके ऊपर बहुत काफी लिखा भी जा चुका है। 'नीहार,' 'रश्मि,' 'नीरजा,' 'सान्ध्यगीत' और 'यामा' आपकी अति प्रसिद्ध पुस्तकें हैं।

—:o:—

गीत

रूपसि तेरा घन-केश-पाश !
श्यामल श्यामल कोमल कोमल,
लहराता सुरभित केश-पाश !

नभगंगा की रजतधार में,
धो आई क्या इन्हें रात !
कम्पित हैं तेरे सजल अंग,
सिहरा-सा तन है सद्यस्नात !

भीगी अलकों के छोरों से
चूती बूँदें कर विविध लास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

सौरभभीना झीना गीला,
लिपटा मृदु अंजन-सा दुकूल;
चल अंचल से झर झर झरते,
पथ में जुगनू के स्वर्ण-फूल;
दीपक से, देता बार-बार,
तेरा उज्ज्वल चितवन-विलास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

उच्छ्वसित वक्ष पर चंचल है,
बकपाँतों का अरविन्द-हार;

तेरी निश्वासें छू भू को,
बन बन जातीं मलयज बयार,

केकीरव की नुपुरध्वनि सुन
जगती जगती की मूक प्यास।
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

इन स्निग्ध लटों से छा दो तन,
पुलकित अंकों में भर विशाल;
झुक सस्मित शीतल चुम्बन से
अंकित कर इसका मृदुल भाल;

दुलरा दो ना बहला दो ना
यह तेरा शिशुजग है उदास !
रूपसि तेरा घन-केश-पाश !

दो गीत

(१)

मोम सा तन घुल चुका अब दीप सा मन जल चुका है !

विरह के रंगीन क्षण ले,
अश्रु के कुछ शेष कण ले,
बरुनियों में उलझ बिखरे स्वप्न के फीके सुमन ले,
खोजने फिर शिथिलपग
निःश्वास दूत निकल चुका है !

चल पलक हैं निर्निमेषी,
कल्प पल सब तिमिरवेषी,
आज स्पंदन भी हुई उर के लिए अज्ञातदेशी !
चेतना का स्वर्ण जलती
वेदना में गल चुका है !

झर चुके तारक कुसुम जब,
रश्मियों के रजत पल्लव
संधि में आलोक तम की क्या नहीं नभ जानता तब,
पार से अज्ञात वासंती-
दिवस-रथ चल चुका है !

खोल कर जो दीप के दृग,
कह गया 'तम में बढ़ा पग',

(९५)

देख श्रम धूमिल उसे करते निशाँ की साँस जगमग,
क्या न आ कहता वही
सो याम अंतिम ढल चुका है!

अंतहीन विभावरी है,
पास अंगारक तरी है,
तिमिर की तटिनी क्षितिज की कूलरेख डुबा भरी है!
शिथिल कर से सुभग
सुधिपतवार आज बिखर चुका है!

अब कहो संदेश है क्या?
और ज्वाल विशेष है क्या?
अग्निपथ के पार चंदन चाँदनी का देश है क्या?
एक इंगित के लिए
शत बार प्राण मचल चुका है!

(२)

अकेली वियोग-कथा कहती मैं!
प्रदीप का स्वर्ण सुहाग लिए हूँ,
पतंग सा ज्वालाभिसार किए हूँ,
विरागमयी अनुरागवती री
जला जलने की व्यथा सहती मैं!
घिरी निशि पावस की दृगद्वय में
निदाघ रहा अविराम हृदय में!

(६७)

अंगराग-सी है अंगों में सीमाहीन उसीकी छाया !
अपने तन पर भाता है, अलि, जाने क्यों शृङ्गार किसी का ?

मैं कैसे उलझूं ! इति-अथ में,
गति मेरी है संसृति-पथ में,

बनता है इतिहास मिलन का प्यास भरे अभिसार अकथ में !
मेरे प्रति पग पर बसता जाता सूना संसार किसी का !

(२)

मैं न यह पथ जानती थी !
धूम हों विद्युत-शिखाएँ
अश्रु हों गल तारिकाएं
छा भले लें आज अग जग वेदना की घट घटाएँ !

सिहरता मेरा न लघु उर,
काँपते पग भी न मृदुतर,
सुरभि मैं तम में सलोने स्वजन की पहिचानती थी !

ज्वाल के हों सिंधु तरलित,
तुहिन विजड़ित मेरु शत शत,
पार कर लूँगी यही पगचाप यदि कर दे निमंत्रित !

नाप लेगा नभ विहग-मन;
बाँध लेगा प्रलय मृदु तन;
किस लिए यह धूल सोदर शूल आज बखानती थी ?

विरह का युग मिलन का पल,
मधुर जैसे दो पलक चल,
एकता इनकी तिमिर दुति खिलाती स्वप्न-शतदल !

बढ़ रहे मिलने नए क्षण;
अनुगमन करते गए क्षण;
अलि, विरह के देश में मैं तो न इति अथ मानती थी !

श्री रामकुमार वर्मा

वर्मा जी हिन्दी में परिष्कृत शृंगार के कवि हैं। उनकी रुचि जैसी परिमार्जित और सुश्री है, कल्पना भी उतनी ही कोमल और भाषा भी वैसी ही कर्णमधुर है। हिन्दी में किसी स्वतंत्र साहित्यिक प्रवृत्ति के नेता न होने पर भी उन्होंने जो लिखा है, सब मिलाकर बहुत अच्छा है। उनकी वेदना अस्पष्ट है परन्तु निराली स्वस्थ और स्वरूपवती है।

कुमार में कल्पना अधिक है अनुभूति कम। जीवन में मनुष्य जो तिल-तिलकर मिटता है, जैसे बूँद बूँद कर दीपक का स्नेह खत्म होता है वैसे ही क्षण क्षण मानव भी अस्तोन्मुख होता जाता है। इसी विनाश की चिन्ता में कवि कुमार की कल्पना निरन्तर पड़ती जाती है। साथ ही जहाँ कुमार अपने अन्तस्तल की तह में उतरकर बोलते हैं वहाँ उनकी ऐसी अमर पंक्तियाँ फूट पड़ती हैं—

'पर तुम्हारा स्नेह खोकर मैं तुम्हारी ही शरण हूँ'

कुमार जी की कविता में प्रकृति के व्यापारों का संगीतमय, रागात्मक संकेत भी चलता है और उसी के भीतर से वे अपने मानस का प्रतिबिम्ब दिखाते हैं।

कुमारजी का जन्म मध्यप्रान्त में संवत् १९६२ ईस्वी में हुआ। वे प्रयाग-विश्वविद्यालय के एक प्रखर छात्र थे और हिन्दी में एम० ए० करके अब आजकल वहीं अध्यापक हैं। आपको "चित्ररेखा" काव्य पर दो हजार रुपये का देवपुरस्कार भी मिल चुका है और आपकी गणना हिन्दी के प्रथम श्रेणी के कवियों में की जाती है।

वर्माजी उच्चकोटि के विद्वान भी हैं। आपके निबन्ध और "हिन्दी साहित्य" आलोचनात्मक अन्यका इतिहास पठनीय है। यह इतिहास अपने स्वतंत्र दृष्टिकोण से लिखा है। साथ ही आपने कुछ सरस एकांकी नाटक भी लिखे हैं जो दो चार बार खेले भी जा चुके हैं।

कुमारजी की कविता में एक बात और है और वह है हृदय में किसी से मिलने की आकांक्षा। कहीं कहीं उनकी कविता में वही उन्नसित आत्मतृप्ति, वही ज्वलन्त परन्तु मीठा आत्म-सुख फूट पड़ा है जो प्रेयसी के शीतल आलिंगन में मिलता है। कुछ आलोचकों के अनुसार भले ही इस भावना में आध्यात्मिकता का अंश उतर आता हो परन्तु मुझे तो यह एक विशुद्ध मौलिक मानवीय मनोभावना ही लगती है।

वर्मा जी ने कुछ ऐतिहासिक कविताएँ भी लिखी हैं जिनमें 'शुजा' सबसे उल्लेखनीय है। इस कविता में एक निबिड़ता— एक हहराहट है जो हृदय को प्रचंड हवा में पीपल के पत्तों की हलचल की याद दिलाती है—

> "ये शिलाखण्ड काले कठोर वर्षा के मेघों से कुरूप।
> दानव से बैठे खड़े या कि अपनी भीषणता में अनूप ॥
> ये शिला खण्ड मानों अनेक पापों के फैले हैं समूह।
> या नीरवता ने चिर निवास के लिए रचा है एक व्यूह ॥
>
> × × ×
>
> जीवन के दिन क्या हैं अनेक वृद्धा के सिर के श्यामकेश।
> जर्जर-तन है मुक्त द्वार जिसके सम्मुख है मृत्यु देश ॥
> यह वैभव का उज्ज्वल शरीर दो दिन करता है अट्टहास।
> फिर देख स्वयं निज विकृत रूप लज्जित हो करता है प्रवास ॥

शुजा कवि की अमर रचना है।

कुमार जी से हिन्दी को अभी बड़ी बड़ी आशायें हैं। उनकी कविता में चटकीले रंगों का विन्यास नहीं होता, वरन एक मनोरम हल्का गुलाबी आवरण सा रहता है। वे एक हिलोर उत्पन्न कर देते हैं। वस्तुतः वे एक अत्यन्त उच्चकोटि के सफल कवि हैं और इस नाते अभिनन्दनीय भी।

संयोग

सौरभ से मेरे शिशु-विचार।
पृथ्वी-प्रसून की गोद बैठ, नभ देख रहे हैं बार-बार॥
हँसते हैं प्राची-दीप देख, फैलाते अपने कर उदार!
प्रमुदित होकर जा रहे सद्म, तारक-परिजन दो तीन-चार॥
माँ, ये प्रभात-झोंके अनेक, करते हैं रह-रह कर प्रहार।
नीले अंचल में कर विलीन, करलो इनको भी निराकार॥

जीवन-वसन्त

जीवन-वसन्त आया।
पीड़ा का कंटक मेरे—
मार्गों में कसक न पाया॥ जीवन०—
अविरल गति से जीवन के क्षण,
मैंने कभी न जाने—
रात्रि-दिवस का भेद चन्द्र ने
हँसकर बतलाया॥ जीवन०—
दुःख के पल्लव पीत गिर गये—
किसलय की स्मिति जागी।

सौरभ की वीणा पर कोकिल ने
स्वर भर गाया ॥ जीवन०—
कलियों के शब्दों में लिख दी,
किसने उर की भाषा ?
उलझा हुआ हार था सुख का—
किसने सुलझाया ? जीवन०—

संकेत

साँसों के चञ्चल समीर में,
जीवन दीप जलाऊँ !
बन प्रकाश की ज्योति—
अँधेरे में छिपने को आऊँ ?
करुणा के सागर में उठती हैं जब हिंस् हिलोरें—
प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें—
बाँध-बाँध आशा-बन्धन में,
तब मन को सुलझाऊँ ?
दूर बसे हो, केवल स्मृति ही आकर यहाँ बसी है—
प्राणों के कण-कण से पीड़ा तुमने यहाँ कसी है—
अभिलाषा-तरु में विकसित हो,
दो दिन में मुरझाऊँ !

सौरभ की वीणा पर कोकिल ने
स्वर भर गाया ॥ जीवन०—
कलियों के शब्दों में लिख दी,
किसने उर की भाषा ?
उलझा हुआ हार था सुख का—
किसने सुलझाया ? जीवन०—

संकेत

साँसों के चञ्चल समीर में,
जीवन दीप जलाऊँ !
बन प्रकाश की ज्योति—
अँधेरे में छिपने को आऊँ ?
करुणा के सागर में उठती हैं जब हिय हिलोरें—
प्रिय-दर्शन-वरदान माँगती हैं नयनों की कोरें—
बाँध-बाँध आशा-बन्धन में,
तब मन को सुलझाऊँ ?
दूर बसे हो, केवल स्मृति ही आकर यहाँ बसी है—
प्राणों के कण-कण से पीड़ा तुमने यहाँ कसी है—
अभिलाषा-तरु में विकसित हो,
दो दिन में मुरझाऊँ ?

विहारिणी

निस्पंद तरी, श्रांत मन्द तरी

चल अविचल जल के करतल पर,
गुञ्जित कर गति की लघु लहरी ॥ निस्पंद० ॥

साँसों के दो पतवार चपल सम्मुख लाते हैं नव-नव पल ;
अविदित भविष्य की आशंका की,
छाया है कितनी गहरी ॥ निस्पंद० ॥

मेरी करुणा का मृदु सावन पुलकित कर दे तन-तन मन-मन ;
विस्तृत नभ की व्याकुल विद्युत्,
पल-पल बन जाती है प्रहरी ॥ निस्पंद० ॥

श्री हरवंशराय 'बच्चन'

बच्चनजी प्रसिद्ध हालावादी कवि हैं। यद्यपि हाला-प्यालावाद को चलाने का श्रेय पं० पद्मकान्त मालवीय को है, परन्तु बच्चनजी ने ही इस विचारधारा में प्रवाह लाकर उसे अपने हृदय की भावुकता से तरल करके उसमें नवीन स्फूर्ति का समावेश किया। इनकी कविता में उन्मादिनी मदिरा के अस्तित्व से उत्पन्न होनेवाले आनन्द की सजीव अनुभूति होती है। जीवन की क्षण-भंगुरता की ओर इनका दृष्टिकोण उमरख़ैयाम जैसा है और ख़ैयाम की छाया भी इन पर स्पष्ट है। मगर बाद की रचनाओं में कवि का स्वनिर्मित व्यक्तित्व खूब उभर आया है।

बच्चन जी की कविता में कई गुण हैं। मस्ती और जीवन के प्रति विलासितापूर्ण एक ख़ास क़िस्म का दृष्टिकोण आपकी विशेषता है। हाला, प्याला, साक़ी को ये एक विशेष दार्शनिक दृष्टिकोण से देखने का प्रयास करते हैं। जीवन की अस्थिरता जैसे इन्हें प्रतिक्षण विश्व-नियन्ता और समाज के प्रति विद्रोही बनाया करती है। इनकी कविता में एक परिपक्व यथार्थता (ripened reality) होती है जो पाठक को तुरन्त अभिभूत कर लेती है।

"मैं व्यर्थ बनाता तृष्णा का दिन बीत रहे हैं जीवन के,
किस-किस के दूर करूँगा मैं सन्देह यहाँ हैं जन-जन के।
अरे प्याला दुनिया भूले भूले भूलूँगा जीवन को,
दीवानों ने जग में रहकर कब काम किये जग के मन के।
वह पीना भी कैसा जिसमें बाक़ी रह जाये जग का भय,
तेरा मेरा सम्बन्ध यही तू मदिरामय मैं तृषित हृदय।"

जीवन की यह यथार्थ गहराई भी इनकी रचनाओं में जगह जगह पर मिलती है और इसीलिये इनकी कविता में एक विलक्षण मस्ती, एक बेखुदी और एक उच्चकोटि की सरलता आ जाती है।

बच्चन यौवन के कवि हैं। 'तीर पर कैसे रुकूँ जब आज लहरों में निमन्त्रण' बच्चन जी की बहुत ही स्पर्शी रचना है। बच्चन जी की लोक-प्रियता का सब से बड़ा रहस्य उनका मधुर, उच्छ्वास सुकोमल कंठ है। जहाँ तक मेरा ख्याल है इतनी जल्दी किसी कवि ने इतनी लोकप्रियता नहीं पाई। परन्तु यदि हम शुरू से देखें तो बच्चन जी की आरम्भिक रचनाएँ अधिकांश में एक नवीनता लेकर चली थीं। 'तेरा हार' जो उनकी प्रथम रचना है एक विशिष्ट कोटि का प्रयास-मात्र होते हुए भी कवि का एक स्वतंत्र भाव-प्रवाह उपस्थित करती है। खैयाम की मधुशाला अवश्य एक सुन्दर अनुवाद था। परन्तु मधुशाला जिसने बच्चन के नाम को घर घर व्यापी बनाया, विशुद्ध तुकबन्दी न होते हुए भी स्थाई चीज़ नहीं है। इसके बाद ही बच्चन की प्रतिभा का निखार होता है और वे क़रीब क़रीब एक दर्जन अमर रचनायें लिख डालते हैं। ये सब 'मधुबाला' और 'मधु कलश' में संकलित हैं। निशा-निमंत्रण भी कवि के १०० गीतों का संग्रह है और उसमें कवि विशेष सफल हुआ है और उसमें गीत ऐसे हैं जो हृदय को बड़ी देर तक छूते रहें। एकान्त संगीत में कवि ने प्रगति पथ पर एक क़दम और आगे बढ़ाया है। मानो दोनों अन्तिम कृतियों में बच्चन और ऊँचे उठ गये हैं।

जो भी हो, बच्चन की एक बहुत बड़ी देन है। अपने मादक मधुर कंठ द्वारा एक विशेष ढङ्ग से कविता पाठ करके उन्होंने हमारे यहाँ की जनता (Masses) और छात्र वर्ग की रुचि हिन्दी कविता की ओर रमण की। हिन्दी के आधुनिक कवियों के साथ बच्चन का भी

अपना विशेष स्थान है और आधुनिक कविता का ज़िक्र करते समय इन्हें छोड़ा नहीं जा सकता।

'बच्चन' की कविता में एक तीखी प्यास है—एक मानवीय ज्वाला है जो अविरामगति से जलती रहती है। ऐसा ज्ञात होता है कि जब जीवन में सबसे अधिक वासना का उद्रेक होता है—जब तृष्णा अति घनीभूत हो उठती है उसी समय कवि ने अपनी हाड़-मांस की भूख को दबाया है। क्योंकि उसी अतृप्त 'सेक्स' की प्रतिक्रिया उनकी रचनाओं में स्थल-स्थल पर जलती दीखती है। उन्होंने लिखा भी है:—

'वासना जब तीव्रतम थी बन गया था संयमी मैं' यह ऐसा और इतना बड़ा सत्य है कि कदाचित् कवि इसे भुलाने पर भी नहीं भूल सकता। साथ ही उनकी जितनी भी पुकारें हैं सब मानवता की आवाज़ें हैं। युग-युग से मानव एक विराट लौहचक्र के नीचे पिसता रहा है और आज बग़ावत की इस शताब्दी में वह इस नियति-शासित, पराजित जीवन से ऊब गया है। बच्चन की कविता इसी विराट, अलक्ष्य अगोचर विश्वचक्र की लौह कठोरता और व्यापी उत्पीड़न के प्रति एक पुकार है; परन्तु उसमें कहीं भी विद्रोह नहीं है। असन्तोष, उलाहना, कातरता, लाचारी और परवशता अवश्य है। कारण, विद्रोही कवि का निर्माण जिन परमाणुओं से होता है वे बच्चन के कवि में नहीं हैं। विद्रोह से हमारा तात्पर्य एक विप्लावक आत्मचेतना और संहार की जागरूक ज्वाला से है।

बच्चन की कविता में संगीत भी बड़ा मधुर है। जैसे सारी कविताएँ एक मादक मधुर प्रवाह से भरभर कर उठती हों। साथ ही उनकी कल्पनाएँ भी नवीन और मनोरम हैं। एक बात और। ऐसा प्रतीत होता है जैसे अपने जीवन में २५ साल तक कवि को एक साधना में, एक तपस्या में, तिल तिलकर अपने को भस्म करना पड़ा है

और आज जब उसकी आहुति पूरी हो आई है तब वह खामोश नहीं रह सकता ।

कवि बच्चन का भविष्य बड़ा ही उज्ज्वल है । उनसे हमें बड़ी बड़ी आशाएँ हैं । हाँ, एक बात है । यदि युग के तक़ाज़ों को पहचानने में वे सफल होते गये, तो हिन्दी के कुछ ही कवि उनकी ख्याति और निपुणता को पासकेंगे । यों उन्होंने जितना लिखा है वही उन्हें जीवित रखने के लिये काफ़ी है और हिन्दी में एक नई धारा बहानेवाले तो वे सदैव ही कहे जायँगे ।

कवि का गीत

(१)

गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे।
काम क्या समझूँ न हो यदि
गाँठ उर की खोलने को!
संग क्या समझूँ किसी का
हो न यदि मन बोलने को!
जानता क्या क्षीण जीवन ने
उठाया भार कितना,
बाट में रखता न यदि
उच्छ्वास अपने तोलने को!
हैं वही उच्छ्वास कल के
आज सुखमय राग जग में,
आज मधुमय गान, कल के
दग्ध-कण्ठ-प्रलाप मेरे।
गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे।

(२)

उच्चतम गिरि के शिखर को
लक्ष्य जब मैंने बनाया,

गर्व से उन्मत्त होकर
शीश मानव ने उठाया,

ध्येय पर पहुँचा विजय के
नाद से संसार गूँजा,

खूब गूँजा किन्तु कोई
गीत का सुन स्वर न पाया;

आज कण-कण से ध्वनित
झनकार होगी नूपुरों की,

खड्ग-जीवन-धार पर अब
हैं उठे पद काँप मेरे!
गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुःखों की माप मेरे!

(२)

गान हो जब गूँजने को
विश्व में, क्रन्दन करूँ मैं,
हो गमकने को सुरभि जब
विश्व में आहें भरूँ मैं,

विश्व बनने को सरस हो
जब गिराऊँ अश्रु मैं तब,

विश्व-जीवन-ज्योति जागे
इसलिए जलकर मरूँ मैं!

बोल किस आवेश में तू
स्वर्ग से यह माँग बैठा ?—
'पुण्य जब जग के उदित हों
तब उदय हों पाप मेरे !'
गीत कह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

(४)

चुभ रहा था जो हृदय में
एक तीखा शूल बनकर,
विश्व के कर में पड़ा वह
कल्प तरु का फूल बनकर,
सीखता संसार अब है
ज्ञान का प्रिय पाठ जिससे,
प्राप्त वह मुझको हुई थी
एक भीषण भूल बनकर,
था जगत का और मेरा
यदि कभी सम्बन्ध तो यह—
विश्व को वरदान थे जो,
थे वही अभिशाप मेरे !
गीत यह इसको न दुनिया,
यह दुखों की माप मेरे !

(५)

भावना के पुष्प अपनी
सूत-वाणी में पिरोकर
धर दिए मैंने खुशी से
विश्व के विस्तीर्ण पथ पर;

कौन है सिर पर चढ़ाता!
कौन ठुकराता पदों से!

कौन है करता है उपेक्षा !—
मुड़ कभी देखा न पल भर।
थी बड़ी नाज़ुक धरोहर,
था बड़ा दायित्व मुझ पर;

अब नहीं चिन्ता इन्हें
झुलसा न दें संताप मेरे।

गीत यह समझो न दुनिया,
यह दुखों की मार मेरे।

विश्व को उपहार मेरा !

। जिन्हें धनपति अकिंचन

गे जिन्हें सम्राट निर्धन,

से भरा है आज भी भंडार मेरा !

विश्व को उपहार मेरा !

कित, आजा ! व्यथित, आजा !

लित, आजा ! पतित, आजा !

नको दे न सकता स्वप्न का ससार मेरा ?

विश्व को उपहार मेरा !

लें तृषित जग होंठ तेरे,

लोचनों का नीर मेरे

। पाया प्यार जिनको आज उनको प्यार मेरा !

विश्व को उपहार मेरा ।

तरुण राग

यह अरुण-चूड़ का तरुण राग !
सुनकर इसकी हुँकार वीर,
हो उठा सजग अस्थिर समीर,
उड़ चले तिमिर का वक्ष चीर चिड़ियों के पहरेदार काग।
यह अरुण-चूड़ का तरुण राग !
जग पड़ा खगों का कुल महान,
छिड़ गया सम्मिलित मधुर गान,
पौ फटी, हुआ स्वर्णिम विहान, तम चला भाग, तम गया नाग
यह अरुण-चूड़ का तरुण राग !
अब जीवन-जागृति-ज्योति दान,
परिपूर्ण भूमि-तल-आसमान,
मानों कण कण की एक तान, सोना न पड़ेगा पुनः जाग !
यह अरुण-चूड़ का तरुण राग !

आओ, हम पथ से हट जाएं।

युवती और युवक मदमाते,
उत्सव आज मनाने आते,
लिये नयन में स्वप्न, वचन में हर्ष, हृदय में अभिलाषाएं।

उनकी इन मधुमय घड़ियों में,
हास लास की फुलझड़ियों में,
हम न अमंगल शब्द निकालें, हम न अमंगल अश्रु बहाएं!

यदि उनका सुख-सपना टूटे—
काल उन्हें भी हम सा लूटे,
धैर्य बँधाएं उनके मनको हम पथिकों की करुण कथाएं!

'एकान्त संगीत' से

मूल्य दे सुखके क्षणों का!
एक पल स्वच्छन्द होकर!
तू चला जल थल गगनपर
हाय आवाहन वही था, विश्वके चिर बन्धनोंका!
मूल्य दे सुख के क्षणोंका!

था निशाकी स्वप्न छाया,
एक तूने गीत गाया,

हाय! तूने रुद्ध खोला द्वार शत-शत क्रन्दनोंका!
मूल्य दे सुखके क्षणोंका!
आँसुओंसे ब्याज भरते,
अनवरत लोचन सिहरते,
हाय! कितना बढ़ गया ऋण होंठके दो मधुकणोंका!
मूल्य दे सुखके क्षणोंका!

(२)

मेरा तन भूखा, मन भूखा!
इच्छा सब सत्यों का दर्शन,
सपने भी छोड़ गये लोचन,
मेरे अपलक युग नयनों में मेरा चन्चल यौवन भूखा!
मेरा तन भूखा, मन भूखा!

इच्छा! सब जग का आलिङ्गन,
रूठा मुझसे जगका कण-कण,
मेरी फैली युग बाहोंमें, मेरा सारा जीवन भूखा!
मेरा तन भूखा, मन भूखा!

आँखें खोले अगणित उडुगण
फैला है सीमाहीन गगन
मानवकी अमिट बुभुक्षामें क्या अग-जगका कारण भूखा!
मेरा तन भूखा, मन भूखा!

श्री सियारामशरण गुप्त

आपका जन्म सम्वत् १९५५ में चिरगाँव झांसी में हुआ। आप अमर कवि श्री मैथिलीशरण गुप्त के छोटे भाई हैं और कहानीकार, उपन्यासकार तथा, नाटककार भी हैं। उनकी कुछ कहानियाँ तथा 'नारी' उपन्यास उल्लेखनीय है। हाँ, नाटक लिखने में उन्हें कोई प्रशंसनीय सफलता नहीं मिल पाई।

खड़ी बोली के प्रधान अभिव्यंजना वादी कवियों में गुप्त जी का शुमार है—प्रकृति के छोटे छोटे रूपों द्वारा ये जीवन के सूक्ष्म और आध्यात्मिक रहस्यों के उद्घाटन का प्रयास करते हैं—सफलता के साथ। इनकी काव्यकला संकेतात्मक है। हृदय वाद की सीमा को पारकर कभी कभी इनकी रचनायें रहस्यवाद का स्पर्श करती हैं, परन्तु अधि कांश में आख्यान और वर्णना ही इनकी लोकप्रिय हुई हैं। भावुकता सहानुभूति परदुःखकातरता, ममता, स्नेह, परपीड़ा और जीवन के प्रति एक साधक की सी निर्लिप्तता इनकी रचनाओं में सदैव मुखरित होती है। इनकी शैली भी स्वतन्त्र है जिस पर इनके अति सीधे सादे सरल, तरल जीवन की छाप है। सुख से दुखी रहने के कारण (स्त्री की असामयिक मृत्यु और शारीरिक कष्ट साँस का भयंकर रोग) आपकी वाणी में एक ऐसा सहज गीलापन आ गया है। कहीं कहीं यह अति उदार और महिमोज्ज्वल हो उठा है।

"प्रियतम कब आवेंगे कब
कुछ भी देर हुई तो मेरे सुमन सूख जावेंगे सब
हँसि री तब तूने किस बल पर
चुन रक्खे प्रसून अंचल भर

नहीं ठहर सकते जो पल भर
शीघ्र सूख जाने वाले ये सुमन सूख जायेंगे जब
प्रियतम तब आवेंगे तब
प्रियतम कब आवेंगे कब
कुछ भी देर हुई तो मेरे दीपक बढ़ जावेंगे सब
सखि तब सजग स्नेह से खाली
दीपावलि किसलिये उजाली
रहे न पल भर जिसकी लाली
सत्वर बढ़ जाने वाले ये दीपक बढ़ जावेंगे जब
प्रियतम तब आवेंगे तब।

ऐसी है इनकी काव्य कला। सरलवाक्यों द्वारा पाठक के मर्म में एक गहरी सहानुभूति का आविर्भाव करके फिर दो एक घटनाओं के संकेत से उसे विह्वल बना देते हैं। इनके अपने शब्द प्रयोग हैं। ये सादगी में सौन्दर्य और वह भी उच्चकोटि का दिखा देते हैं। यहाँ तक कि इनकी कविता जीवन का एक सजीव चित्र जान पड़ने लगती है। क्षणिक शीर्षक कविता में कोयल को सम्बोधन कर कहते हैं।

"यह क्षण जिसके दोने में तू सब मधुरस निचोड़ लाई
यह क्षण जिसमें गत वसन्त को फिर से यहाँ मोड़ लाई
महाकाल के मस्तक पर है मलयज चन्दन का टीका
एक तान में सब रागों का स्वर संजोग जोड़ लाई"

अथवा

तेरी उच्च हिमचूड़ा पर अपना लक्ष्य प्रतिष्ठित कर
हे गिरिवर यह नूतन यात्री चलता रहा आज दिन भर
उस चूड़ा पर पहुँच कभी का दिनकर उतर गया उस पार
यहाँ श्रान्त हो बैठ गया यह रखकर उर पर गुरुतम-भार

विना सुनी संध्या चुपके से आकर जगा गई यह दीप
इस मंदिर में और हो उठा अन्धकार का प्रखर प्रसार

एकाकी है यह नरनारी हीन उपत्यका में गिरिवर
तेरी उन्नत हेम शृंग पर आशा मंदिर प्रतिष्ठित कर

तेरा मोहाकर्षण हमको खींच कहां से है लाया
हे गिरि महिमान्वित किस छन्द इसके दृग पथ में आया

इस प्रकार इनकी पंक्तियों में एक विशेष प्रकार की प्राणप्रदता और संजीवनी रहती है। प्रकृति के दोनों रूप इन्होंने देख डाले हैं। जगत की पीड़ा और उलझनों से व्यथित होकर कवि जब सान्त्वना के लिये प्रकृति के पास जाता है तब प्रकृति निष्ठुर होकर उसके प्रति कोई हमदर्दी नहीं दिखाती। परन्तु कहीं कहीं प्रकृति भी उसकी व्यथा से करुणा विभोर होकर अपना हृदय खोल देती है। ये दोनों पहलू प्रकृति के हैं और गुप्त जी ने दोनों को अपनाया है।

करुणा तो इनकी कविता की मूल मौलिक सत्ता है। करुणा भी सस्ती और भावजर्जर नहीं वरन उच्चकोटि की, अति गंभीर और आध्यात्मिक संकेतों से पूर्ण-निखरी हुई। शुद्ध, व्यवस्थित, प्रौढ़ तथा सशक्त भाषा में ये लिखते हैं। अतुकान्त तथा गीति नाट्य-शैली को भी इन्होंने अपनाया है। साथ ही सामाजिक विषयों पर लिखी गई इनकी कुछ कवितायें भी हृदय को बड़ी देर तक छूती रहती हैं। मौर्य्य विजय इनका एक आरम्भिक खण्ड काव्य है जो सुन्दर होते हुए भी स्कूली लड़कों के लिए है। परन्तु आशा, दूर्वादल, विषाद दूरमयी, बापू आदि इनकी प्रसिद्ध रचनायें हैं जो कवित्व मंडित और प्रौढ़ हैं। दिन पर दिन इनकी व्यंजना मार्मिक ही होती चली गई है।

दुख प्रवणता इनमें अथाह समुद्र की भाँति भरी है। ये विश्व के सम्पूर्ण कलुष और पाप की सारी प्रताड़ना को अपने हृदय के आँसुओं से छोड़ा लेने को उत्सुक हैं। ये विशुद्ध भारतीय आदर्शों और कहीं कहीं अयथार्थताओं के कवि हैं। आदर्श वादी है और आर्य्य संस्कृति और सौन्दय का मार्मिक दिग्दर्शन यो इनकी कृतियों में है। गद्य लेखन की भी इनकी एक स्वतंत्र शैली है जो अभीतक पूर्णतः विकसित नहीं हो पायी है परन्तु विकासोन्मुख है।

कब ?

प्रियतम कब आवेंगे !— कब !
कुछ भी देर हुई तो मेरे
सुमन सूख जावेंगे सब !
सखि, तब फिर तूने किस बल पर,
चुन रक्खे प्रसून अंचल-भर।
नहीं ठहर सकते जो पल-भर

शीघ्र सूख जाने वाले ये
सुमन सूख जावेंगे जब,
प्रियतम तब आवेंगे,— तब !

प्रियतम कब आवेंगे !— कब !
कुछ भी देर हुई तो मेरे
दीपक बुझ जावेंगे सब।
सखि, तब सजग स्नेह से खाली,
दीपावली किसलिये उजाली
रहे न पल-भर जिसकी लाली, !

सत्वर बुझ जानेवाले ये
दीपक बुझ जावेंगे जब,
प्रियतम तब आवेंगे,— तब !

प्रणाम

[१]

प्रणत प्रणाम !

प्रेमयुत शत-शत प्रणत प्रणाम !
देखकर यह समुदाय, समाज
जान पड़ता है मुझको आज
सभी से है मेरी पहचान ;
सभी से है सम्बन्ध महान !
विगत जन्मों में भी बहु बार
मिले हैं हम सब इसी प्रकार।
हँसे-रोले हैं मिल-जुल संग,
रहा है प्रेम-प्रसंग अभंग।
नहीं अब यदपि वह सब याद,
तदपि उसका आह्लाद-विषाद

नहीं हो गया समस्त समाप्त ;
अभी तक हैं उर-उर में व्याप्त !
तभी तो एक तनिक-सी दृष्टि
कर गई अतुल पुलक की वृष्टि !
न होने पर भी कारण, ज्ञात,
हो गया है रोमांचित गात।

बोलकर दो ही मीठे बोल,
उठाकर एक मृदुल हिल्लोल;
अरे, माई तुममें से कौन,
हो गया मेरे भीतर मौन?
प्रणत प्रणाम!
उसे है शत-शत प्रणत प्रणाम!

[२]

प्रणत प्रणाम!
सभी को शत-शत प्रणत प्रणाम!
आह कैसा मेरा अविवेक!
कहूँ कैसे,—तू है बस एक?
एक ही हो,—मैं तो साह्लाद
आज लूँगा सहस्र-शत स्वाद!
तुम्हीं में से किस-किसके गेह,
तुम्हीं में से किस-किसका स्नेह,
न जाने पाकर कितने काल
हुआ हूँ मैं कृत-कृत्य निहाल!
जन्मदात्री की, मा की, गोद;
पिता का प्रेम-प्रपूर्ण प्रमोद;
बहन का शुचि स्निग्ध बर्ताव;
बड़ों का वत्सलता का भाव;

अन्य स्वजनों का प्यार-दुलार
पा चुका मैं फिर-फिर बहु बार!
अयुत जन्मों की भी पथ-श्रांति
हुई मेरे हित तब तो शांति!
आज जो कुछ मुझमें अभिराम!
पूर्व का ही है वह परिणाम!
किन्तु हा! हो कैसे यह ज्ञान
कि किससे पाया है क्या दान?
सिन्धु में अपना घट-भर नीर;
किस तरह खोजूँ मैं अगँभीर?
किन्तु मैं आज नहीं हूँ क्षुद्र;
हुआ मेरा ही निखिल समुद्र!
प्रणत प्रणाम!
सभी को शत-शत प्रणत प्रणाम!

[२]

प्रणत प्रणाम!
बन्धुवर, शत-शत प्रणत प्रणाम!
पूर्व में किसी समय सविकार
किया हो यदि कुछ दुर्व्यवहार,
निरकुंश होकर क्रूर-अबाध
किया हो गुरुतर गुरु-अपराध,

अकारण ही करके विद्वेष
हृदय को पहुँचाई हो ठेस,
क्षमा उसके निमित्त सौ बार
चाहता हूँ मैं हाथ पसार।
नहीं हैं स्वयमपि यद्यपि याद
हमें अपने वे प्रचुर प्रमाद;

आज के मेरे दोष तमाम
उसी दुष्कृति के हैं परिणाम।
इन्हें भूलोगे प्रिय, किस भाँति ?
भुलाना होगा, हो जिस भाँति।
जन्म-जन्मांतर से चिरकाल
भूल जाने की प्रकृति विशाल
रही है तुममें परम विचित्र,
यहाँ भी रहने दो वह मित्र!
प्रणत प्रणाम!
बंधुवर शत-शत प्रणत प्रणाम!

इलाचन्द्र जोशी

जोशी जी हिन्दी में उन एकान्तसेवी और यश से दूर भागने लोगों में हैं जो सदैव अपने को अन्धकार में ही रखने का यत्न ा करते हैं। एक जमाना था जब डा० हेमचन्द्र जोशी और चन्द्र जी का नाम सभी साहित्य सेवियों की जबान पर रहता था उस समय धूमकेतु की भाँति हिन्दी संसार में आकर जोशी बन्धुओं ान्तर सा उपस्थित कर देने का प्रयास किया था। विश्वमित्र ा का प्रवर्तन और लगातार दो वर्षों तक सफल सम्पादन करने ाद जोशी बन्धुओं ने एक प्रकार से साहित्यिक सन्यास सा ले लिया। ा फिर भी जो कुछ लिखा है वह उन्हें अमर कर देने के लिये ी है।

जोशी जी की प्रतिभा बहुमुखी है। वे प्रथम श्रेणी के कवि, नी लेखक उपन्यासकार और आलोचक हैं। उनकी भाषा जैसो ल होती है वैसी ही लावण्य और निखारमयी। उनके गद्य में ऐसा आकर्षण है जो पाठक को अभिभूत कर लेता है। कला ात्य और विज्ञान का इतना विराट अध्ययन शायद ही हिंदी साहित्य न्य किसी लेखक का हो। जोशी जी के लिखे भिन्न भिन्न विषयों जितने भी निबन्ध निकले हैं उन्हें पढ़ने से यह ज्ञात होता है कि ी जी ने कितने मनोयोग पूर्वक साहित्य और जीवन का अध्ययन ा है।

जोशी जी की कविता से ही यहां हमारा विशेष प्रयोजन है ता में वे घोर यथार्थवादी हैं और उनके कवि रूप में यह यथार्थ पग-पग पर झलकता है। कवि का हृदय पूर्ण मानव है और

सृष्टि के दारुण कशाघातों से रोती कलपती चीत्कार करती जीव
समग्र सुकुमारता जब उनके सामने आती है तो वे बेचैन हो ज
और पढ़ने वालों को भी बेचैन कर देते हैं। साथ ही सौन्दर्य का
तो उनकी पंक्ति पंक्ति से होता है। आत्मानुभूतियों के स
चित्रकार होते हुए भी जोशी जी प्रकृति की रागात्मक वृत्तियों में जी
का यथार्थ देख लेते हैं। रस विशेष की ओर ही जोशी जी की
दृष्टि नहीं है वरन जीवन का रौरव भी उनकी कविता में उतनी ही स
और सरलता के साथ चित्रित होता है जैसे ,पर्वत-पथ के विजन प्र
में कपोत कुल कूजन सुनती हुई किसी भोली भाली निपट नवेली लल
का मंद हंसगति से शिवपूजन करने जाना। भयानक और वीभ
मृदुल और मधुर उनकी तूलिका के केवल प्रयोग हैं।

इसका कारण यह है कि जोशी जी के साहित्यिक कल्चर पर प्रा
और पाश्चात्य दोनों साहित्यों का प्रभाव पड़ा है। उन्होंने एक ओ
कालिदास और रवीन्द्रनाथ जैसे सौन्दर्य के पुजारी कलाकारों से भ
विश्व और प्रकृति जीवन और मृत्यु को देखने का दृष्टिकोण पाया
और दूसरी ओर शेक्सपीयर और उससे भी पेश्तर के दुःखवादी ग्रीक
कवियों और नाटककारों से भी मानवता को परखने वाला कला का
सृजनात्मक मापदन्ड ग्रहण किया है।

जोशी जी की भाषा भी हिन्दी के किसी भी कवि की भाषा से
अलग है। संस्कृत के पंडित होने के कारण जोशी जी की भाषा चेस्ट
और मधुर है और भारत की सुजलाम् सुफलाम्, शस्य श्यामलाम् की
भांति ही वह प्रिय है। यद्यपि कहीं कहीं जोशी की भाषा में इसी कारण
से कुछ पटापन भी आ जाता है मगर ज्यादातर उनकी भाषा प्रिय
और सरस होती है।

जोशी जी ने कवितायें अधिक नहीं लिखी हैं। उनका एक संग्रह
'विजनवती' ही अभी निकला है और शायद उतनी ही कवितायें

...-चारण से तेजित
...न, निर्मीता ।
...रल – धारापात – सुमङ्गल—
वर्षाजल से स्नाता,
...का-सम उज्ज्वल अति निर्मल
तुम हो शरत्-प्रभाता ।

हिम-सिक्त नव-कास समान पुनीता,
कुसुम-स्तवक-नत लता समान विनीता,
स्वच्छ, स्निग्ध हो सरस-विमल नवनीता,
कम्पवती हो शीतल उत्तर-वाता ।
अविरल-धारापात-सुमङ्गल—
लोचन-जल से स्नाता ।

...का स्वप्न झिलमिला
...झलका ?
...रहा तिलमिला
...का ?

...है तव वीणा ?
...माया में लीना
...छिन-छिन क्षीणा
...आकुल-अलका !

महाश्वेता

मूर्त्तिमती शुचिता-सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला ?
बजा रही हो वीणा रुमझुम
पहने हो वनमाला ।
किस तापस की हो तुम तपसी कन्या !
मदनभस्म से रचित कौन हो धन्या ?
होमशिखा-सम उजली कौन अनन्या !
किस वनदेवी ने तुमको है पाला ?
मूर्तिमती शुचिता-सम हो तुम
कौन अप्सरा-बाला !

कठिन नियम-चारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता,
शीतल तुहिन-कणों से मज्जित
वन में हो आनीता ।
शान्त विजन में बैठी हो तुम विजना,
कुन्दशुभ्र तुम हो प्रसून-दल-व्यजना,
कलित केतकी-वन-सी कण्टक-मग्ना,
हिम-संघात-शिला-सम हो तुम शीता ।

कठिन नियम-धारण से तेजित
हो निर्मम, निर्भीता ।

अविरल – धारापात – सुमङ्गल—
वर्षाजल से स्नाता,
मुक्ता-सम उज्ज्वल अति निर्मल
तुम हो शरत्-प्रभाता ।

तुहिन-सिक्त नव-कास समान पुनीता,
कुसुम-स्तबक-नत लता समान विनीता,
स्वच्छ, स्निग्ध हो सरस-विमल नवनीता,
कम्पवती हो शीतल उत्तर-वाता ।
अविरल-धारापात-सुमङ्गल-
लोचन-जल से स्नाता ।

किस सन्ध्या का स्वप्न झिलमिला
आँखों में है झलका ?
किस प्रवेग से रहा तिलमिला
रोदन अन्तरतल का ?

किस करुणा से व्याकुल है तव वीणा ?
सन्ध्या-छाया की माया में लीना
अस्तराग-सी होती छिन-छिन क्षीणा
कैसे तुम अलबेली आकुल-अलका ?

पर यह भोली-भाली प्यारी निपट नवेली ललना
सरल लासमय तरल दृगोंमें छलका निश्छल छलना
पर्वत-पथके विजन प्रांत में सुन कपोत-कुल-कूजन
मंद, हंस-गतिसे जाती है करने शिवका पूजन;
सरल, मधुर विश्वास भरा है तरुण, करुण नयनोंमें,
लज्जा-रश्मि लास खिला है हस्तस्थित सुमनों में;
स्नेह-प्रेम-रस प्रतिपल उसके मधुमनमें सिंचित है,
निखिल चक्रकी वक्र-प्रगतिसे नहीं तनिक परिचित है,
ब्रह्म-सत्य-सम निश्चित समझे बैठी है निज यौवन,
परम-तत्व-सम नित्य समझती है निज पतिका जीवन;
मोहाच्छन्न हृदयको उसके मैं कैसे समझाऊँ ?
चिर-जीवन की तृष्णा उसकी कैसे हाय, बुझाऊँ !

नाचो ! नाचो ! अमानिशाके महाकाश-मंडलमें,
लयंकरी लीला दिखला पल-पलमें ।
रुद्रकाल ! तुम करो विघूर्णित नर्तन ।
अन्ध सृष्टिके रंध्र-रंध्रमें जगे बंधहर चेतन ।
तुम तो नाच रहे हो प्यारे ! वसन कराल पहन कर
अगणित सूर्योंकी मालाकी ज्वाला नित्य वहन कर;
पर यह देखो, करुणा-विह्वल माता विकल शयनमें
घन-निद्रारत, परम दुलारे शिशुके कोमल तनमें
फेर-फेरकर हस्त पुलकप्रद, स्नेह-वेदना-व्याकुल—
रह-रह होती है अविजानित आशंकासे आकुल

उसकी यह उद्दाम वेदना कैसे हाय, भुलाऊँ !
किस मायासे उसका शंकित, कंपित वक्ष सुलाऊँ !

नाचो ! नाचो ! भैरव !

निरिवल नियमके रोम-रोममें मचे व्योममय ताण्डव !
गर्जित होओ सुदृढ़ वज्र-सम मेरे नग्न हृदयमें,
हँसो ठठाकर अट्टहासमे तुंग तुषारालयमें ।
हिमसंघोंके भीम-पतनसे, वज्रमयी क्रीड़ासे
तुम होते विक्षोभित जीवन-मृत्युमयी पीड़ासे
पर यह देखो, निखिल विश्वके मानव आर्त रुदनसे
किस निष्ठुरसे भिक्षा चाह रहे हैं शीर्ण वदनसे !
वज्रकोपसे, रुद्रशापसे जन्मावधि हैं पीड़ित,
कठिन नियमके पेषणसे, हैं निशिदिन त्रस्त, विताड़ित;
नहीं शक्ति जीनेकी उनमें, नहीं चाह मरनेकी,
ज्ञानहीन पशु-सम चिन्ता है क्षुधा शान्त करनेकी;
उनके दुर्बल, भीरु हृदयको कैसे सबल बनाऊँ ?
मस्तक ऊँचा करनेका नया जीवन-मंत्र सुनाऊँ ?

——:o:——

रामेश्वर शुक्ल "अंचल"

अंचल जी का जन्म १ मई सन् १९१५ ई० को कृष्णपुर ग्रा
ज़िला फ़तेहपुर में हुआ। आप हिन्दी के प्रसिद्ध कवि, लेखक औ
सम्पादक पं० मातादीन शुक्र, साहित्य-शास्त्री के सुपुत्र हैं। शुक्र ज
ने लगातार ८ वर्षों तक माधुरी का सफल सम्पादन करके हिन्
साहित्य में अपना निश्चित स्थान बना लिया है हिन्दी के पत्रकारों
शुक्ल जी ऊँचा और सम्माननीय स्थान रखते हैं।

अंचलजी बचपन से ही बड़े भावुक और सहृदय थे। १६ व
की ही अवस्था में आपने कहानियाँ, कविताएँ और आलोचनाएँ लि
कर अपनी प्रतिभा का परिचय देना शुरू कर दिया। लखन
विश्वविद्यालय के वे एक मेधावी और प्रतिभाशाली छात्र थे। ब
एम० ए० में पढ़ते समय ही उन्हें सरकारी सेक्रेटेरियट में नौकरी मि
गई और उन्होंने पढ़ना छोड़ दिया। आजकल आप प्रान्तीय पब्लि
सरविस कमीशन के आफ़िस में कार्य करते हैं और प्रयाग में ही रह
हैं। बचपन में ही हिन्दी के प्रसिद्ध कवियों के संसर्ग में आकर उनक
प्रतिभा का अंकुर बराबर विकसित होता गया और आजकल तो उनक
गणना श्रेष्ठ नवोदित कवियों में की जाती है।

कविताओं के अतिरिक्त अंचल जी ने कहानियाँ और आलोच
नात्मक निबन्ध भी लिखे हैं। कहानियाँ आपकी 'तारे' और क

संकलित भी हो चुकी हैं और सुना है, आपका दूसरा संकलन भी निकल रहा है। हिन्दी के कहानीकारों की चर्चा करते समय उन्हें भूला नह जा सकता। उग्र यथार्थवाद, मनोवैज्ञानिक विश्लेषण, चरित्र सृष्ठि और प्रवाहमयी भाषा ये आपकी कहानियों के प्रमुख गुण हैं। साथ ही कवि होने के कारण उनकी कहानियों में एक सरसता, मादकता और स्फूर्ति भी होती है जो उनकी कहानियों को और भी चमत्कारपूर्ण बना देती है। समाज और जीवन की अपूर्णताओं के प्रति वे शुरू से विद्रोही रहे हैं।

अंचल जी की कविताओं का एक संग्रह 'मधूलिका' और दूसरा 'अपराजिता' के नाम से छप चुका है। और तीसरा 'तूफान' के नाम से निकलने वाला है। इधर आपकी कविताओं पर मार्क्सवाद की भी छाया आ चली है और उनमें एक विशेष शक्ति का विस्फोट है। छायावाद और रहस्यवाद की प्रतिक्रिया स्वरूप हिन्दी में जिन कवियों का उदय हुआ है उनमें अंचल जी अपना सुरक्षित और विशिष्ट स्थान रखते हैं। यहाँ बच्चन और दिनकर को भी भूला नहीं जा सकता।

अंचल की कविताओं में मानवता, तृष्णा और शक्ति प्रचुर मात्रा में है। भाषा में प्रचंड प्रवाह है, शब्द-योजना मधुर और हृदय-स्पर्शी है। अन्य कवियों की भाँति प्रचलित और नवीन दोनों छन्दों में आपने लिखा है। साथ ही उनकी कविता पर पाश्चात्य प्रभाव भी कहीं कहीं दृष्टिगोचर होते हैं। परन्तु कवि की जो एक अविराम ज्वाला होती है—कलाकार के प्राणों में जो एक प्रेरणा होती है—जिससे वेदना जागती है वह उनकी पंक्ति-पंक्ति में जागरूक रहती है। वासना का आधिक्य भी कहीं-कहीं है और वह तीव्र भी है; परन्तु, कलाकार अनोचित संयम भी उनमें खूब है। उनकी भावनाओं में बड़ा वेग है जो

कदाचित आज के युग की हलचल का ही प्रतीक है। कहीं कहीं जीवन और जगत दोनों से उकताकर जैसे एक चैलेंज के रूप में आ संघर्ष भरी सत्ता लेकर खड़े होगये हैं।

संसार के कण-कण में निहित विषाद मानों सदैव उन्हें रुला करता है। किसी का भी दुःख हो— वेदना हो, दर्द हो, सब उन का है। उनकी अभिव्यक्ति में तीव्रता है—एक खास प्रकार तीखापन है जो बराबर चोट करता रहता है।

समीर के स्वच्छन्द प्रवाह की भांति अंचल जी आठों पहर क रहते हैं। कविता उनके जीवन की सर्वव्यापिनी और स्थायी निधि है सजी-सजाई आधुनिक, विलास मंडित नटखट रमणी की अपे आपको कविता का वन-कन्या का सा भोलारूप ही अधिक प्रिय है

अंचल जी का जीवन वेदना और टीसों का जीवन है। यों उन पास सब कुछ है जो बाह्य दृष्टि से मनुष्य को सुखी बना सकता उच्चशिक्षा, आर्थिक सम्पन्नता, निश्चित जीवन प्रवाह, उच्चकोटि सम्मानित मित्र मंडल। परन्तु फिर भी अपने पागलपन में मस्त रहने कारण उन्हें जीवन, जगत् और स्वयं अपने साथ कई भयंकर सं करने पड़े हैं। यही कारण है कि उनके जीवन में गति है प विराम नहीं। उनकी कविता में भी प्रवाह है, विराम नहीं। पागल झरने की भांति वे तेज़ी से तरंगित होते हैं और अपना स मद, रस, करुणा और मौलिक पीड़ा वे उड़ेलते चलते हैं। हिन्दी एक सरस साहित्य तपस्वी उन्हें अज्ञात करुणा का प्रक्षुब्ध सागर कर पुकारते हैं। उनकी कविता क्या है मानवता की पुकार है— मानवता की, जो तारे-सा धक्-धक् कर क्षण भर जलकर हँसते-हँ टूट पड़ती है। जो प्यार करती है, हृदय रखती है, कष्ट सहत और अविराम गति से रोती है—रोये ही जाती है। यही कारण कि मानव हृदय की संतप्त लालसाओं को इस तरुण कवि ने अ

जादू भरे शब्दों में नग्न चित्रित किया है। अंचल जी इधर की कविताओं में उग्र यथार्थवादी हैं। साथ ही मैं उन्हें हिन्दी का सबसे बड़ा रोमैंटिक कवि कहता हूँ। रोमैंटिक भी उस मंजिल पर पहुँचा हुआ, जब अन्तस्तल में डूबनेवाले आत्मनिष्ठ के लिये बाह्य सुख-दुःख अपना कोई प्रभाव नहीं रखते—वे लहरों की भाँति आकर ऊपर ही ऊपर चले जाते हैं। साथ ही काव्य में जो एक परिणति का सौन्दर्य होता है, कविता जब चरम ऐश्वर्य के शिखर पर आकर हिमानी सी किरण किरीटिनी बन खड़ी होती है—वह स्वरूप, वह नूर भी अंचल की कविताओं में प्रचुर मात्रा में है।

कवि की कृतियों में एक विराट दुःख, एक सीमाहीन अकूल वेदना गागर में सागर की तरह भरी हुई है। वे साथ ही जब इस वेदना की आँच में जीवन का प्रकाश मिलता है, तभी किसी पर अपने अस्तित्व को लय कर देने, अपने को किसी की ज्वाला में भस्म कर देने में जीवन की अनन्तता भी दिख जाती है।

अंचल हिन्दी के लिये एक देन हैं। उनकी गणना हिन्दी के चोटी पर के तरुण कवियों में की जाती है। वे युग के प्रतीक हैं। केवल २३-२४ वर्ष की अवस्था में अन्य किस कवि ने ऐसी उद्दाम प्रतिभा का परिचय दिया है, यह स्मरण नहीं आता। हाँ, इस दृष्टि से इनकी तुलना बँगला के सत्येन्द्रनाथ दत्त और प्रेमेन्द्र मित्र से की जा सकती है। प्रेमेन्द्र मित्र की 'प्राथमिका' की भाँति अंचल की 'मधूलिका' भी हिन्दी में एक नये नक्षत्र का उदय संकेत लेकर आई। बहिर्जगत की प्रेरणा अन्तर की प्रेरणा से एकाकार होकर जब एक भग्न व्यथा, आनन्द और उन्माद की आत्मांजलि बिखेरती है उस समय इस कवि के प्राण न जाने किस मूक प्यास से टकरा-टकराकर, किस अज्ञात के अस्तित्व के कशाघातों

से प्रताड़ित होकर सागर की भाँति मूर्तिमान हो हाहाकार कर उठते हैं वही रक्त उद्दीपनकारी हाहारव और जीवन का सारभूत रस, कल्पना के युगान्तर कारिणी कविताओं में फूट पड़ता है । अंचल हिन्दी में अपने व्यक्तित्व के अकेले कवि हैं। एक कल्पना की नारी का अनुभूति, विलास उन्हें प्रतिक्षण परिचालित रखता है जो कभी प्रियतमा, कभी क्रान्ति, कभी इन्क़िलाब की विपथ-गामिनी ज्वाला और कभी विश्व सुन्दरी के रूप में उनके सामने अपना अतुल अशेष यौवन और सौन्दर्य्य संकेत लिये नाचा करती है ।

——:०:——

वह मजूर की अंधी लड़की

यह मजूर की अंधी लड़की,
कुम्हलाती, बुझते चिराग-सी टिम-टिम करती,
देख न पाती कच्ची धूप—
रोशनी उजली—
फूली-फूली रातें ।
बीन रहा आँगन में बिखरे
किस दिन के जूठन के टुकड़े
उसका छोटा भाई ।
मिल की सीटी बजते ही
तड़के जाते मा-बाप
आँखें मलते छोड़ उन्हें चुपचाप—
जहाँ सुलग उठती दिन चढ़ते
मीठी-मीठी दोज़ख की-सी आग ।
यहाँ अँधेरे सन्दक में खामोश
सूखी, जर्जर कभी-कभी बेहोश
पड़ी रह जाती,
यह मजूर की अंधी लड़की ।
पल-भर को ही खुलती आँखें काश !
देखती अपना आदमखोर मकान
सीड़न की दुर्गन्धि लिये सुनसान

फटी-फटी जिसमें सूरज की किरणें आतीं—
एक जनाज़ा-सा लातीं,
फिर फूँक जिसे जल जातीं।
सहसा सुन बिलखाते माई की आवाज़
अस्त-व्यस्त चिथड़ों को ले
वह अर्धनग्न उठ जाती,
शायद नहीं जानती किन अंगों में कितना पाप!
दौड़ उठाती
उस पज़मुर्दा बच्चे की छाती से सट-सट जाती
गाती, दुलराती ले दिल में खोया-खोया ज्ञान।
देख अगर पाती बच्चे को
जो रोगी मा का अपराध
उसी मरमुखी के हड़कम्पी सौरव सृजन की साध :
गलित चिर रुग्ण
बड़ा-सा पेट
प्रज्ज्वलित जिसमें असन्तोष की क्षुधा
चिता-सी ज्वाला।
गाती जाती पाकर कोई भूली-भूली बात
यह मजूर की अंधी लड़की,
खून जम गया जिसका काला-काला
सड़ी प्राणघातक नमकीन हवा में।
दृष्टि हीन दुर्गन्धि भरी वह

मूर्त गन्दगी नग्न गरीबी में।
कहीं नहीं मेहनत मजदूरी भी कर सकती!
अन्धकार में पड़ी कब्र-सी आँखें,
बासी रोटी बासी पानी।
बीत रही धुँधली धुँधली जिन्दगानी।
सन्ध्या को मा-बाप मिलों से आते
जर्जर थकित अँगुलियाँ लेकर
सिर में चक्कर खाते
चिल्लाते खाँसी से अकुला
फूल-फूल जाता दम
और हड्डियों पर बेकड़के गिरनेवाली
बिजली को काले चिथड़ों से ढाँपे।
स्तब्ध खड़ी रहती हत्या-सी
वह मजूर की अंधी लड़की।

—o○o—

आज चलीं तुम घूँघुट खोले

(१)

आज चलीं तुम घूँघुट खोले किस मरघटकी महाकराली ।
फूट रही पद नख ज्वालासे शोणित कुम्भोंकी-सी लाली ।
झमक बोल उठते पग-ध्वनिमें नाश भरे घुँघरू अलबेले ।
दूर पिनाकी की टंकारें ज्यों उठते आँधी से शोले ।

फिर दिगम्बरीके आँगनसे लोथोंके अम्बार सजाये ।
कौन चली आतीं तुम रूपसि ! रक्त-लिप्त अलकें उलझाये ।
काली रात अँधेरा छाया आज छकीं क्या तुम भी आली ।
झूम चली आती दुर्दिनमें कौन सोहागिन-सी मतवाली ।

(२)

अपनी इस सूनी कुटियामें शेष स्नेहका दीपक बारे ।
आज अचेतन-सा बैठा मैं लिये लुकाटी नदी किनारे ।
सुनता उस तटका क्रन्दन अकुलाता जलता नींद न आती ।
कुचल रहा हो जैसे कोई स्वप्न-भरी यह मेरी छाती ।

मैं सुनता उस पार कुटीमें भूखे शिशुओंकी चीत्कारें ।
मैं सुनता उन चुसी ठठरियोंके घावोंकी हरी पुकारें ।
मैं सुनता उस पार कहींसे महानाशकी आँधी आती ।
जब भूखी हतभागिनि कोई दो हिचकीमें ही टँग जाती ।

आततताइयों की हिंसा से काँपता अम्बर धरती रोती
युग-युग की जीवन-प्रतिमा तुम आज पड़ी खेतों में सोती
देखो मुट्ठी भर दानों को तड़प रही कृषकों की काया
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इंक़िलाब फिर आया

(२)

काली काली जमी पपड़ियाँ सूखा रक्त कलेजा छिलता
भूल युगों से गया कहाँ से विप्लव आने सागर हिलता
इस शोषण के चरम गर्त में तिल-तिल मिटना इसने जाना
चीर काल की धार न इसने प्रलय सृजेता को पहचाना
भूखे तिल-मिल करते शिशु ने मरा न जिसमें हत्यारापन
देख अपाहिज सा लेता जो नारी का अपमान अकिंचन
जागो एक नज़र भर देखो फिर कितना उन्माद समाया
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इंक़िलाब फिर आया

(३)

गाज गिरी श्रमिकों के सुख पर फूली धन-सत्ता इतरानी
फाड़ गया हो जैसे कोई फोड़ों से धुँधुआती छाती
दिन भर प्राण जलाते धू-धू ये पशु से अधन्य हारा जर्जर
सन्ध्या को ले घुनी हड्डियाँ आते भिखमंगों से कातर
ये भी निशि में सुख से सोते पाते अगर पेटभर दाना
किन्तु इन्हें तो कफ़न न मिलता इन्हें कठिन भी तो मर जाना
आज इन्हें उच्छृंखल कर दो छोड़ चलें बन्धन की माया
कब से सुप्त पड़ी खेतों में जागो इंक़िलाब फिर आया

(४)

भूले ये भूचाल युगों के, भूले ये तूफ़ान भयंकर
भूली सर्वनाश की ये तस्वीरें जो अकुलाती घर घर
एक तुम्हारी आहट पाते ही ओ आग-भरी लासानी
घू-घू बुझते दीप भभक घर-घर में फूँकेंगे कुरबानी
जागो अब तो धधक उठे लू से ये खेत लुटी हरियाली
कब से ये मज़लूम बुलाते ओ जलते अंगारोंवाली
पाक करो यह सृष्टि दानवों से जिनने यह अनय मचाया
कब से सुस पड़ी खेतों में जागो इंक़िलाब घिर आया

(५)

टूटेगी जब नींद तुम्हारी टूटेंगे किरणों के भाले
ऊँचे-ऊँचे महल गिरेंगे भू-लुंठित होंगे मतवाले
ये कीड़ों से मरनेवाले भस्म करेंगे परत ज़नाना
स्वर्ग नर्क सी लिए विषमता जिसने पीस इन्हें सुख माना
टूटेगी जब नींद तुम्हारी चौंक गड़े मुर्दे मरघट में
मृत्युंजय हो व्योम चीरने छूटेंगे बल एक लपट में
एक न भूपर शेष रहेगा अरे, लिराष्ट्रों का मरमाया
कब से सुस पड़ी खेतों में जागो इंक़िलाब घिर आया

(६)

कब तक ये निःशंग रहेंगे नहा नैरबों को कन्याएँ
कब तक हा-हाकार चलेगा ओ हृदयम्य भरी पापाएँ

आज हवाओं के तेवर में चुम्बित करती प्रलय-पिपासा
गर्म फुफुक चिटखारें भरती घर-घर में नवयुग की आशा
उठो सुन्दरी ! चले ववंडर सा बिजली का चपल हिंडोला
महाकाल उत्ताल भयंकर वस्त्र-हीन नाचे अनबोला
बजते ही जय-शंख तुम्हारा कब न मनुज ने जुल्म ढहाया
जागो रंजिततना ! क्षितिज में देखो इंक़िलाब घिर आया

ओ नैया के खेनेवाले.......

फको बीच भँवर में तरिणी ओ नैया के खेनेवाले
छाया एक अजब अँधियारा आज अमंगल के मतवाले
इन खामोशी की बूंदों में सुन लो आज प्रलय की आहट
कुछ-कुछ ऐसा ही होता है जलती तरुणाई का मरघट
ऐसी ही सुनसान हिलोरें एकाकी जीवन में भाती
चलना ऐसा ही सन्नाटा डगमग होती जीवन-बाती
इस बेहोशी के आलम में बोल उमंगों की जय बाबा
आज उचटते सपने की भी माया है तृष्णामय बाबा

एक गुमरते धुँधलेपन से बीत रहे ये मेरे भी दिन
पनपा करते ज्यों मरु अपने जलते क्षुब्ध बवण्डर गिनगिन
अपने दिल की फुलवारी में वही जलन की बेल लगाये
ओ नैया के खेनेवाले बीच भँवर में तरणी लाये

आज बुझाकर अपने तारे जाग रही घनघोर उदासी
बह जाने दो नाव अतलमें यह तो लहरों की चिरवासी
एक भरोसा तूफानों का जिनका आँधीसा दम बाबा
सिरजन के चीत्कार लिये जो चट्टानों में चलते बाबा

बाँध सकें पछुआ की धड़कन जिसकी छाती की हुँकारें
और न अधरों में फिर लौटें जिसकी झंझावात पुकारें
जो सागर की देख रुलाई मच अमावस-सा घुल घेरे
पर विष के अम्बार लिये जो नीर भरी पुतली से हेरे
आज उसी चोन्हीं मंजिल के मीत ! पुरानी आग लगा ले
फेंको बीच भँवर में तरिणी ओ दुर्दिन में खेनेवाले
इस वीराने बाग़ी दिल को एक यही कुछ राहत बाबा
यों दुनिया में खिली जवानी कली-कली चटकीली बाबा

झूटे ये सुख-दुख के बन्धन जीवन के उच्छृंखल याली
झूठी यह ममता की बन्दिश वह अवशेष स्नेह की प्याली
धूप-छाँह का रैनबसेरा झूटी उसकी याद सुहानी
झूटे बरबादी के सौदे जिनमें बीती विकल जवानी
उम्र समुन्दर की ऐसे ही नील रवानी में कट जाती
चलती रहती एक कहानी भूख कहाँ कब बुझने आती
युग-युग से है याद तपिश का कुछ ऐसा ही दामन बाबा
पाप भयंकर कौन लगेगा ऐसी वहशत से बढ़ बाबा

बीच भँवर में पाल गिराकर ओ नैया के खेनेवाले !
देखो पानी की बुनियादें जहाँ पहुँच जाते मतवाले

लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अन्तर
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तों में झुकता
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता
कुछ क्षण की यह बात नहीं यह एक जनमकी ज्वाला बाबा
अविनाशी उन्मत्त अकम्पित जीवन की जयमाला बाबा

नीला यह आकाश धरा के विष से अपना गात निखारे
नीली लहरों की पगडण्डो बनती मिटती साँझ-सकारे
आज बलायें लेता दुर्दिन मस्त पवन मेरे सन्धानी !
आज भरा है सागर का घर खेनेवाले कैसा पानी ?
आज न बिन जाये रह जाता मत्त हुबाबों का आमन्त्रण
फेंको आज प्रलय में नैया खोल शस्य श्यामा के बन्धन
दर्द नहीं बस बेचैनी है जो पत्थर में भी लय बाबा
साथी पाता आज वही दिल बोल तरंगों की जय बाबा

सांध्य स्मृति

आज माँझी मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में।

आज तू नौका न ले चल जल जहाँ अवसन्न बहता
डोलता दक्षिण पवन सूनी कथा उद्भ्रान्त कहता
गूँज कंकण रव जहाँ की युवतियों का लास लाता
सुन न पाता कण्ठ-स्वर व्याकुल ; सुलग बुझने न आता
रूद्ध मँडराती पिपासित तीर के इस पार रह-रह
था बना बन्दी स्वयं तृष्णा बड़ी मीठी लगी यह
झूमती मोती-लड़ी-सी तारिका आयी गगन में
फूँक डाली थी चिता उस दिन इसी तट पर विजन में

दूर तक छायी घटा आँसू भरे ये मेघ छाये
नाचती किरणें क्षितिज में क्यों प्रिया की सुधि जगाये
मौन मन्थर डोलतीं जलसिक्त कटि-आनत लजाती
आज कैशर स्रोत-सी वे ग्राम कन्यायें न आतीं
कृष्ण वेणी और वह हिल-हिल न अब पागल बनाती
चिर कुमारी चिर लली वह अब न जल के पास आती
दूर ले चल भर नजर लख भी न पाऊं भस्म कण मैं
आज मैं नौका न बाँधूगा यहाँ इस तट विजन में

भूल पाता मैं न माँझी वह कुसुमऋतु रात उन्मन
जान पड़ती है अरे कल की कसकती बात प्रतिक्षण

लहराया करते लहरों में सपने श्याम मरण के आकर
मस्ती की तालों पर जब उफनाया करता बेसुध अन्तर
चिर विद्रोही मस्तक जिसका बस निज आवर्तों में झुकता
दूर निगाहों से नीचे भी अक्षय जिसका स्रोत न रुकता
कुछ क्षण की यह बात नहीं यह एक जनमकी ज्वाला बाबा
अविनाशी उन्मत्त अकम्पित जीवन की जयमाला बाबा

नीला यह आकाश धरा के विष से अपना गात निखारे
नीली लहरों की पगडण्डी बनती मिटती साँझ-सकारे
आज बलायें लेता दुर्दिन मस्त पवन मेरे सग्धानी !
आज भरा है सागर का घर रोनेवाले कैसा पानी !
आज न छिन जाये रह जाता मत्त हवाओं का आमन्त्रण
फेंको आज प्रलय में नैया खोल शरद श्यामा के बन्धन
दर्द नहीं बस बेचैनी है जो पत्थर में भी लय बाबा
साथी पाता आज वही दिल बोल तरंगों की जय बाबा

सांध्य स्मृति

आज माँझी मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में।

आज तू नौका न ले चल जल जहाँ अवसन्न बहता
डोलता दक्षिण पवन सूनी कथा उद्भ्रान्त कहता
गूँज कंकण रव जहाँ की युवतियों का लास लाता
सुन न पाता कण्ठ-स्वर व्याकुल सुलग बुझने न आता
रूद्ध मँडराती पिपासित तीर के इस पार रह-रह
था बना बन्दी स्वयं तृष्णा बड़ी मीठी लगी यह
भूलती मोती-लड़ी-सी तारिका आयी गगन में
फूँक डाली थी चिता उस दिन इसी तट पर विजन में

दूर तक छायी घटा आँसू भरे ये मेघ छाये
नाचतीं किरणें क्षितिज में क्यों प्रिया की सुधि जगाये
मौन मन्थर डोलतीं जलसिक्त कटि-आनत लजातीं
आज केशर स्रोत-सी वे ग्राम कन्यायें न आतीं
कृष्ण वेणी और वह हिल-हिल न अब पागल बनाती
चिर कुमारी चिर लली वह अब न जल के पास आती
दूर ले चल भर नजर लख भी न पाऊँ भस्म कण मैं
आज मैं नौका न बाँधूँगा यहाँ इस तट विजन में

भूल पाता मैं न माँझी वह कुसुमऋतु रात उन्मन
जान पड़ती है अरे कल की कसकती बात प्रतिक्षण

आज क्यों गृहहीन मुक्त-सा हो विकल फिरता समीरण
दूर से स्मृतियाँ बुलाती अर्ध विस्मृत स्वप्न चेतन
छिप किसी के कृष्ण केशों में न पाता नील अम्बर
उन गुलाबी पदतलों में लुक न खिलते विश्व सागर
भूलने दे आज माँझी मरण अविनाशी प्रबल तम
आज सुनते ही चलें उन्मत्त जल कल्लोल छमछम
इन करों से ही रचो थी वह शयन ज्वाला मरण में
आज माँझी मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में

सावन-भादों

पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी
अलस अकूल अतल से निकलेगी तूफ़ानी तृष्णा मेरी
फिर उमंग से उमंग उठे ये बागी साजन बड़े सलोने
यह मेघों का रैनबसेरा आज न देगा जीभर रोने
भूख मरी घड़ियाँ यह, नीले खेतों पर सावन का पानी—
आज पर्णिका में घिर आई कब की मीठी याद पुरानी
उन रतनारी तरल अँखड़ियों में ले एक नमी तुम रानी !
मस्त कहाँ बैठी होगी झपकी-सी प्यास लिये अनजानी—
रूप सजल उन्मन किरणों के आलम में कुछ लिये उदासी
खोई मंजिल के दीपक-सी आज कहाँ जलती हो प्यासी

शस्य वासित गीतिका सी सान्ध्य सपने में बिसरती
सो गयी चिर नींद में वह बाल सङ्गिनि हूक भरती
और नीले चीर में लिपटी चितापर जल चली जब
चन्द्रद्योतित यामिनी में वह अनावृत रूप ले सब
आज जाने हो रहा कैसा विकल मन निशि अटन में
आज मैं नौका न बाँधूगा यहाँ इस तट विजन में

आज भी करती अवश जो एक व्याकुल रागिनी-सी
बींधती जो वक्ष क्षत-विक्षत सुरा-सी फूट प्यासी
सुख कहाँ अब तो व्यथा मिलती कभी जब याद आती
रक्त से घिरता हृदय उठती उदधि-सी नील छाती
आज तो उच्छ्वास के आवेश बस अवशेष कातर
आज पगध्वनि शून्य सन्ध्याएँ चली आती निरन्तर
बस इसी तट का अदर्शन एक सुख-सा है जलन में
दूर ले चल मैं न बांधूगा तरी इस तट विजन में

आज जीवन की सभी भूलें स्मरण कर प्राण रोते
अन्ध चिर अनुराग में सूने विकल दिन-रात होते
शून्य सङ्गीहीन अन्तर फूलता निष्फल तृषा-सा
आज भी जलती चिता के धूम-सी अन्तर्दुराशा
आज जगता ही चलूँगा मैं क्षितिज के पार तत्पर
सो कदाचित ही सकूंगा मैं सुवास अधीर कातर
आज भी कितने शिथिल भरते बकुल नीरव पुलिन में
आज तो नौका न बांधूंगा यहाँ इस तट विजन में

आज क्यों गृहहीन मुग्ध-सा हो विफल फिरता समीरण
दूर से स्मृतियाँ बुलाती अर्ध विस्मृत स्वप्न चेतन
छिप किसी के कृष्ण केशों में न पाता नील अम्बर
उन गुलाबी पदतलों में लुक न खिलते विश्व सागर
भूलने दे आज माँझी मरण अविनाशी प्रबल तन
आज सुनते ही चलें उन्मत्त जल कल्लोल छमछम
इन करों से ही रचो थी वह शयन ज्वाला मरण में
आज माँझी मैं न बाँधूँगा तरी इस तट विजन में

सावन-भादों

पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी
अलस अकूल अतल से निकलेगी तूफ़ानी तृष्णा मेरी
फिर उमंग से उमँग उठे ये बागी साजन बड़े सलोने
यह मेघों का रैनबसेरा आज न देगा जीभर रोने
भूख भरी घड़ियाँ यह, नीले रेतों पर सावन का पानी—
आज पर्णिका में घिर आई कब की मीठी याद पुरानी
उन रतनारी तरल अँखड़ियों में ले एक नमी तुम रानी!
मस्त कहाँ बैठी होगी झपकी-सी प्यास लिये अनजानी—
रूप सजल उन्मन किरणों के आलम में कुछ लिये उदासी
खोई मंज़िल के दीपक-सी आज कहाँ जलती हो प्यासी

शून्य पवन जनहीन डगर जब, शिथिल वधू किस पार बटोही
आज अथल कहाँ से आये इस अशान्त जल में निर्मोही
भीगे वन फूलों में बाँधूँ किस सुर से यह चपल क्रन्दन
हास-अश्रु के किस धन को पा सफल करूँ यह जलन निवेदन
आज साँवली गहिरी सन्-सन् रात कहाँ की लिये निशानी
दीन भिखारिन सी कहती है तुम्हें न जाने दूँगी रानी
आज बावली वर्षा आई तोल तपे भक्तों के बंधन
पूरब दिसि से उठी बदरिया आज मरण का लिये निमंत्रण
किसने कागज की नैया पर दुर्दिन का अभिशाप लगाया
किसने तिनकों की दुनिया में यह जुनून का पर्व मचाया
आज अजीवन के तट पर यों किसने कवि को फूँका लाकर
किसने यों किशोर गायक को विष से भरी जवानी लाकर
झुलसी छाती पर खा-खाकर रक्त पछाड़ें प्रतिपल हिलता
आज प्रलय से प्रीतम जागे कब मुहूर्त अन्धड़ में मिलता
अतल वितल से जल प्रसिक्त केशों को ले फिर उठी चितेरी
पूरब दिसि से घिरी बदरिया फिर बरसेगी पीर घनेरी

गुरुभक्तसिंह 'भक्त'

आपका जन्म संवत् १९५० में गाज़ीपुर में हुआ। आप वकील हैं और आजकल आजमगढ़ म्युनिसिपल बोर्ड में इक्ज़ीक्यूटिव आफ़िसर हैं। 'सरस सुमन' 'कुसुम-कुञ्ज', वंशध्वनि तथा नूरजहाँ आपके काव्य हैं। सब में उल्लेखनीय 'नूरजहाँ' ही है। सुना जाता है कि आजकल आप दूसरा काव्य लिख रहे हैं।

आपकी रचनाओं में प्रकृति के सौन्दर्य की मनोहर झाँकी मिलती है। आप प्रकृति के कवि हैं। आप प्रकृति के नख-शिख के चित्रकार हैं। इस क्षेत्र में आपको अच्छी सफलता मिली है। 'नूरजहाँ' में मानव हृदय के अन्तर्द्वन्द, पिपासाकुल जीवन की कसक और प्रेम की चिर जाग्रत चिनगारियों का चित्रण सुन्दर ढङ्ग से हुआ है। साथ ही भक्तजी को प्रकृति की रङ्गस्थली का जैसा पूर्ण ज्ञान है वह भी श्लाघ्य है। यदि आप इसी प्रकार मनोनिवेश के साथ लिखते चलें तो आप से हिन्दी को आशायें हैं।

भक्त की कविता वर्णनात्मक अधिक है—भावात्मक कम। उनकी कविता कहीं कहीं, यही कारण है कि नीरस और वर्णन-मात्र रह जाती है। परन्तु उनकी फुटकर कविताएँ बड़ी मधुर और सरस हैं। वे रश्मिवत सरल और नीहारवत् तरल हैं। उन्हें पढ़कर चित्त-विभोर हो जाता है।

ओस के ऊपर देखिये, कितना सुन्दर लिखा है—

"मोती मुझको बतलाते हो वह कठोर है नहीं सजल
द्रवित हृदय सो मैं सजला हूँ नवपल्लव से भी कोमल

मूदर दुरत नींद आती हूँ पवन पेड़ ज्योंही करता
मचल गई तो मचल गई मैं उठती हूँ फिर कौन मना

* * *

शरद श्यामला पर मैं लेटी, सोई सुन्दर फूलों में,
कोमल नवपल्लव पर चमकी, सरस नदी के कूलों में।
रँग दिखाई देती तितली का, मिली जो मुझसे झूलों में,
पुष्पों के संग रही झूलती चन्द्रकिरण के झूलों में।

* * *

फिर भी मैं विहार करने को नित्य स्वर्ग से आती हूँ
फूलों में कुछ रात काटकर तारों संग छिप जाती हूँ
तुम कठोर हो मुझे न छूना यही सोच मैं रोती हूँ
दुखिया के जीवन से निकली तरल सजीवन मोती हूँ

भक्त जी की स्फुट कविताओं में उनके प्रकृति-वर्णन बड़े ही हृदयग्राही हैं। जैसे—

एक खेत में मटर फूलकर लोचन लाल दिखाते थे,
कोमल देह लता लखकर हित पत्ते हरे झुलाते थे।
कुसुम कटोरे छोटे छोटे हिमकण से थे भरे हुए,
कुछ कुछ पत्तों से झटके थे—अंचल मानों धरे हुए।

अथवा—

श्यामल मेघ जब कि घिर घिरकर अमित धार बरसाते थे,
दादुर गण जब शोर मचाते—मोर नाच हरषाते थे।
जलद पटल के विपुल वारि से बचने को तब वृक्ष तले
शीतल वायु झकोरों से लड़ दाबे कर से चोर भले
नव कामिनि लतिका सी लिपटी रहती विटप सहारे से
बूँदें सघन चंचला चमके कँपती थर-थर जाड़े से

'चपला' पर लिखी उनकी पंक्तियाँ अमर हैं। यथा:—

फिर बसन्त में कुसुम खिलेंगे फिर सरिता भर आवेगी
क्या लावण्यमयी वह लतिका फिर कुसुमित दिखलावेगी
फिर कोमल कू कू बोलेगी सागर दिशि सरि धावेगी
पर क्या फिर वह सुन्दर बाला गला मिलाकर गावेगी
आवेगी, गावेगी क्या वह बिलकुल अन्तर्धान हुई
किसी मानिनी रमणी के अधरों की वह मुस्कान हुई

सचमुच भक्तजी की कविता में 'कली-कली दृग खोल-खोल के कहन चहत कछु बात' है। एक और सुन्दर चित्र देखें।

कृषक बधूटी खेत काटती हँस हँसकर लेकर हँसिया
गाती गीत सुना दो मोहन प्रेमभरी अपनी बँसिया
भर भर अङ्क उठाकर रखती बालें दोनों भरी हुईं
पवन वेग से अंचल उड़ता प्यारी मानो परी हुई

भक्त जी कैसे सुघर प्रकृति निरीक्षक हैं यह बात स्पष्ट है। उनकी कविता पढ़कर हमें कहीं कहीं वर्ड्सवर्थ के काव्य का सहज ही स्मरण हो जाता है। अनुभूति और अधिकार में बहुत अन्तर होने पर भी हम भक्तजी को हिन्दी का वर्ड्सवर्थ कह सकते हैं। उनकी कविता में वही ताज़गी है, वही मस्ती है। प्रकृति का जितना भी रस खींचना सम्भव हो सका है भक्त जी खींच लाये हैं। इस विषय में वे हिन्दी के पहले कवि हैं। प्रकृति का ऐसा सच्चा, सरल और हृदयग्राही चित्रण उनके पहिले शायद ही हुआ हो।

'नूरजहाँ' में कवि ने प्रकृति के साथ मानवीय जीवन की तह में बैठकर उसकी अपूर्णताओं और वासना की रह रहकर उठनेवाली

हूकों का वर्णन किया है। 'नूरजहाँ' के चरित्र में जो जटिलता और गम्भीरता, कठिनता और जीवन के कशाघातों की तीव्रता, डी० एल० राय ने अपने नाटक में दिखाई है, वह यद्यपि यहाँ नहीं है, परन्तु जो भी है, सुन्दर है। यद्यपि कवि अक्सर 'प्रोज़ैक' हो गया है और कहीं कहीं तो कविता विशुद्ध तुकबन्दी ज्ञात होती है, परन्तु फिर भी एक महा-काव्य को देखते हुए यह दोष क्षम्य है।

भट्टजी 'नूरजहाँ' के बाद किस सौंदर्यमयी को लिये हिन्दी संसार में आते हैं, यह भविष्य के गर्भ में है।

नारद–मोह

'हिमगिरि' अचल समाधि निरत हो तन में धारे श्वेत विभूत,
जमा हुआ है ध्यान जमाकर अटल संयमी-सा मजबूत ।
हिला न उसका मन विकार से कितने ही झोंके आए,
ऊँचा ही सिर रहा निरन्तर बहुत थपेड़े भी खाए।
लौ थी लगी हृदय में प्रभु की कभी न पिघला तापों से,
प्रेमअग्नि ही रही धधकती, जला नहीं सतापों से ।
ठंडे मन से ध्यान लगाकर अपने चित को रक्खा शांत,
शांत नहीं होने दी फिर भी धुन, धूनी को लगा नितांत।
लगा समाधि इसी पर्वत पर नारद ऋषि भी इसी प्रकार,
आँख बंद कर ध्यान लगाए श्वाँस चढ़ाए हैं मन मार।
देख अटल वृत सुरपति काँपा बड़ी-बड़ी आशंका कर,
डरा कहीं यह माँग न बैठे इंद्रासन पाने का वर।
सोचा कोइ उपाय कीजिए जिससे तप हो जावे भंग,
आया याद काम यह भारी कर सकता है पूरे अनङ्ग।
तुरत बुलाकर कहा मदन से देखो आज तुम्हें रतिनाथ,
मुनि नारद का ध्यान भंग कर लेना है उनका मन हाथ।
बैठे हैं वह कोट बाँधकर मन को घेरे जैसे सर्प,
गढ़ को जीत पताका अपनी तुम्हें उड़ाना है कंदर्प।
वीर पंचसर! तुम विजयी हो! नहीं कभी चूका है तीर,
आओ बुभा तुरत चिनगारी जीत मुनीमन मनमथ वीर!

चला काम ले कुसुम-सराशन पहुँचा जहाँ मुनी का वा
प्रिय वसंत की शोभा छाई उड़ने लगी सुगंध-सुवास
काममसित सब हुआ चराचर ऐसी की माया विस्ता
करने लगे सुभग आलिंगन सभी मार की साकर मार
संगम जब पराग केसर का हुआ पुष्परज से मिलकर
मधुकर ने मिल किया त्रिवेणी, फल दे गोद दिया है भर
उठती यौवन की कलियों को पवन छेड़ता है छूकर,
लतिका हिलमिल झूल रही हैं खिल-खिलकर तरुशाखा पर।
सब पर चढ़ा रङ्ग क्रीड़ा का, उठी मृगी, मदभरे कुरङ्ग,
देख सरोज-उरोज मनोहर ताल हृदय में उठी तरग।
है पर्वत की राल टपकती देख गोद में खिले सुमन?
या गिरि से निर्झर गिर-गिरकर सुना रहा अपना क्रन्दन?
सभा बँधा था रहसरङ्ग का सुख का था सब साज सजा,
लगीं सुनाने गीत मुनी को अप्सराएँ आकर गा-गा।
चढ़ी-बढ़ी नदियाँ बलखातीं मद में छकीं भरा अंग-अंग,
कलकल करके लगीं थिरकने गला मिला सखियों के सङ्ग।
लय सुनकर लय हुए सभी सुर बोल बाँध जब लिया अलाप,
धार थम गई सम पड़ते ही दी जो मृदङ्गों पर थाप।
सारङ्ग में उट्ठी स्वरलहरी देने लगे ताल भी ताल,
जलतरङ्ग सुन दहिने-बाँएँ ताली दे-दे झूमे साल।
सजीं सुन्दरी प्रकृति-साज में पिकबैनी कोकिलकंठा,
भाव बताकर हाव-भाव से लगी रिझाने मन मुनि का।

अप्सराएँ ने बहुत चलाए विष के बुझे काम के तीर,
आग लगा दी बुझे शरों ने प्रज्वलित कर मनोज की पीर।
पर माया यह तनिक न व्यापी कर न सकी विचलित मुनि-मन,
बैठे रहे शांति को धारे निश्चल मारे ही आसन।
बनी गले का हार लिपटकर नाच-नाचकर तोड़ी तान,
गई हार न तोड़ सकी सब तान तोड़कर मुनि का ध्यान।
कुम्हला गया फूल-सा चेहरा, फूली साँस, हुई सब शल,
हाथ-पाँव फूले, गाढ़े में पड़ी गुलबदन, कर मल-मल।
नहीं उठा रक्खा मनमथ ने गली नहीं उसकी कुछ दाल,
तान-तान कितने शर मारे हुआ न मुनि का बाँका बाल।
पानी घड़ों पड़ा रतिपति पर, लटक गया इतना-सा मुँह,
डूब गया बेपानी होकर क्या दिखलाए अपना मुँह।
पाँसा पलट गया था अब तो, गए जीतने, पाई हार,
आँखें नीची किए लाज से चरणों में बैठा मन मार।
कुंठित हुए पचशर उसके उलटा चढ़ा उसी पर चाँप,
काँप गया मुनि श्राप न दे दे, लोट गया सीने पर साँप।
बार-बार स्तुति-विनती कर नाक रगड़कर पकड़ा कान
भूल हुई है हमसे भारी क्षमा कीजिए कृपानिधान।
गर्व खर्व कर दिया हमारा भला किया तुमने है तात,
जब पहाड़ के नीचे आए तब समझे अपनी औकात।
मैं मर गया शर्म के मारे मरे हुए को मारे क्या,
चूक हुई है क्षमा कीजिए दयावान हो करो दया।

विनती सुन हँसकर ऋषि बोले क्षमा किया तुमको इस बा
भूल इधर जो पाँव दिया फिर तो आफ़त समझो तुम मार
जान बचाके चुपके उठके चलता हुआ मैन तत्काल
जाकर सुरपति से बतलाया मुँह की खाने का सब हाल
नारदमुनि भी उठे गर्व से जीत काम को शंकर-स
सोचा सिवा हमारे कोई जीत सके मनसिज विरला
चलो ज़रा शंकर से मिल लें वह भी होंगे चकित विशेष
आँख बंद कर क्षण में पहुँचे जहाँ उमा-सँग रमे महेश
आदर से बैठा नारद को पूछी शंकर ने कुशलात
हँसते-हँसते बड़े गर्व से कह दी कामविजय की बात।
भोलानाथ विहँसकर बोले आप कहाँ और कहाँ मदन,
उसको क्या सूझी थी आखिर जो देने आया गदंन।
नहीं आपके लिये बड़ी है इतनी छोटी-सी यह बात,
ढलक गया आँसू बनकर वह ज्यों पानी छू पुरइनपात।
स्वयंसिद्धि है नियम सदा यह मुनिमन को नहिं व्यापे काम,
फिर इसका कहना ही क्या है, नाम छोड़िए कहिए राम!
कुछ विक्षुब्ध हो मुनी सिधारे उन्हें न भाया शिव का ज्ञान,
ईर्षा वस यह नहीं देख सकते हैं, सोचा, कीर्ति महान।
यह समझे थे यही एक हैं मदन-दहन करनेवाले,
जानते थे नारद भी हैं आफ़त के परकाले।
मिलूँ चतुरानन से तो देखें यह कहते हैं क्या,
होंगे वह अवश्य ही सुनकर मेरी नई कथा

ब्रह्मलोक पहुँचे निमेष में आसन दे विधि बोले आ
बहुत दिनों के बाद किधर से भूल पड़े नारद महाराज
नारद बोले दर्शन करने यों ही आए इधर निक
चला कहाँ से ? क्या बतलाऊँ ? पड़ा पेट में हँसते बत
हिमगिर के इक उच्च शृङ्ग के अंचल में सरिता के तं
दीपशिखा को करे न चंचल, रोक एक दम स्वाँस सम
करता था तप, इसी बीच में किया काम ने बहुत प्रय
मेरा तपोभङ्ग करने में उठा न रक्खा कोई यत्न
कन्तु न फँसा जाल में उसके अपना सा मुँह ले मा
ठीक वहीं से आता हूँ मैं अभी ध्यान से हूँ जाग
धन्य-धन्य हो मुनिवर तुम भी जीता खूब काम को ध
तुम्हें छोड़कर शायद कोई, कर पावे यह कार्य जग
कहना मत विष्णू से ऐसा अवश बुरा वह माने
स्वयं नहीं ऐसा कर पाते यह कटाक्ष वह जानें
अच्छा, कह नारदजी आए जहाँ विष्णु करने थे
मिले प्रसन्नवदन लक्ष्मीपति कुशल-क्षेम पूछा मृदु
कह डाली सब रामकहानी नारदजी ने गर्वमा
कहा रमापति ने खुश होकर भला आपने हो अनुचि
बीन बजाकर आप नचावें काम-सरीखे कितने न
मसल दिया होता चुटकी में आया था जो करने ल
यह सुन फूले मुनी सिधारे, सिर में भरा विजय-अभिम
पैर नहीं पड़ते थे भू पर था दिमाग़ पहुँचा असमा

विनती सुन हँसकर ऋषि बोले क्षमा किया तुमको इस बार,
भूल इधर जो पाँव दिया फिर तो आफ़त समझो तुम मार।
जान बचाके चुपके उठके चलता हुआ मैन तत्काल,
जाकर सुरपति से बतलाया मुँह की खाने का सब हाल।
नारदमुनि भी उठे गर्व से जीत काम को शंकर-सा,
सोचा शिष्य हमारे कोई जीत सके मनसिज विरला।
चलो ज़रा शंकर से मिल लें वह भी होंगे चकित विशेष,
औत पद कर क्षण में पहुँचे जहाँ उमा-सँग रमे महेश!
आदर से बैठा नारद को पूछी शंकर ने कुशलात,
हँसते-हँसते बड़े गर्व से कह दी कामविजय की बात।
भोलानाथ विहँसकर बोले आप कहाँ और कहाँ मदन,
उसको क्या सूझी थी आख़िर जो देने आया गर्दन।
नहीं आपके लिये बड़ी है इतनी छोटी-सी यह बात,
ढुलक गया आँसू बनकर वह ज्यों पानी छू पुरइनपात।
स्वयंसिद्धि है नियम सदा यह मुनिमन को नहिं व्यापे काम,
फिर इसका कहना ही क्या है, नाम छोड़िए कहिए राम!
कुछ विक्षुब्ध हो मुनी सिधारे उन्हें न भाया शिव का ज्ञान,
ईर्षा वश यह नहीं देख सकते हैं, सोचा, कीर्ति महान।
यह समझे थे [illegible] एक हैं मदन-दहन करनेवाले,
नहीं जानते [illegible] हैं [illegible] के रखवाले।
चलूँ मिलूँ [illegible] तो [illegible] हैं क्या,
विस्मित [illegible]

ब्रह्मलोक पहुँचे निमेष में आसन दे विधि बोले आज,
बहुत दिनों के बाद किधर से भूल पड़े नारद महाराज?
नारद बोले दर्शन करने यों ही आए इधर निकल,
चला कहाँ से? क्या बतलाऊँ? पड़ा पेट में हँसते बल।
हिमगिर के इक उच्च शृङ्ग के अंचल में सरिता के तीर,
दीपशिखा को करे न चंचल, रोक एक दम स्वाँस समीर
करता था तप, इसी बीच में किया काम ने बहुत प्रयत्न,
मेरा तपोभङ्ग करने में उठा न रक्खा कोई यत्न।
किन्तु न फँसा जाल में उसके अपना सा मुँह ले भागा,
ठीक वहीं से आता हूँ मैं अभी ध्यान से हूँ जागा।
धन्य-धन्य हो मुनिवर तुम भी जीता खूब काम को धन्य
तुम्हें छोड़कर शायद कोई, कर पावे यह कार्य जघन्य।
कहना मत विष्णू से ऐसा अवश बुरा वह मानेंगे,
वयं नहीं ऐसा कर पाते यह कटाक्ष वह जानेंगे।
अच्छा, कह नारदजी आए जहाँ विष्णु करते थे सेन,
मिले प्रसन्नवदन लक्ष्मीपति कुशल-क्षेम पूछा मृदुबैन।
कह डाली सब रामकहानी नारदजी ने गर्वसहित,
कहा रमापति ने खुश होकर भला आपसे हो अनुचित!
बीन बजाकर आप नचावें काम-सरीखे कितने नाग,
मसल दिया होता चुटकी में आया था जो करने लाग।
यह सुन फूले मुनी सिधारे, सिर में भरा विजय-अभिमान,
पैर नहीं पड़ते थे भू पर था दिमाग पहुँचा असमान।

उगता देख भक्त के मन में अहंकार का अंकुर शूल,
किया विचार विष्णु ने इसको युक्ती से कर दूँ निर्मूल।
माया से बस तुरत बसाया, सुन्दर रम्य मनोहर पुर,
जिसकी शोभा देख-देखकर लज्जित होता था सुरपुर।
प्रजा सुखी भूप शीलनिधि करता रहा प्रेम से राज,
उसी नगर में अकस्मात् ही आ पहुँचे नारद महाराज।
रचा स्वयंवर था कन्या का राजा ने कर बहुत उछाह,
देश-देश के भूप आनकर लगे भाग की रखने राह।
पहुँचे नारद तो राजा ने बैठाकर आदर के साथ,
छुआ चरण, सुता का अपने लगे दिखाने मुनि को हाथ।
कहा भाग्य इसका तो कहिए कृपा दिखाकर करो कृतार्थ,
जो विधि ने लिख दिया हाथ में बतला दीजे हमें यथार्थ।
रूप सरोवर से कोमल कर कमलकली-सा उठा सनाल,
कुछ सकुचा, कुछ चंचल देखे, तिरछे लख सखियों के बाल।
विश्व-मायमु से लगी दिखाने मुनि नारद को अपना हाथ,
वाम हथेली लगे देखने मुनिवर थाम हाथ में हाथ।
आँख गड़ाकर रेखाओं में, नचा-नचाकर पुतली को,
पढ़ने लगे हस्तरेखा को मुनिवर मस्त मुग्ध-सा हो।
देख-देख रेखाएँ कर की खींच-खींचकर सुन्दर चित्त,
खींचकर चित्र खिंचे-से खड़े रहे, थी दशा विचित्र।
की .बाल देखकर उस बाला के हाथों में,
हाथ लगे घबड़ाने, मन न रहा निज हाथों में।

देखी मीन तैरती, उसकी कोमल सुघर हथेली में।
तड़प गए मछली-सा सोचा रखकर प्राण हथेली में।
फँसा लिया इसने मन मेरा फाँसू इसे लगा वसी,
पा जाऊँ तो मौज उड़ाऊँ बजे चैन की फिर बंसी।
कमल-पुष्प पर मधुप हृदय यह इकदम हुआ निछावर है,
सामुद्रिक से निकल रहा यह भाग्यवान इसका वर है।
प्रभु कैसे यह वरूँ कुमारी गजगामिनि यह आवे हस्त,
पी प्याला मदभरे नयन का हो जाता हूँ मैं मदमस्त।
क्या बतलाऊँ पा जाऊँ यदि विष्णु का मैं रूप ललाम,
तो पहिना देगी मोहित हो बरमाला मुझको यह वाम।
आँखें भर-भर देख प्रिया को नयन बंद कर लूटा सुख,
खींची भी तसवीर हृदय पर उतर गया अपना ही मुख।
देख मौन मुनिवर को इकदम, ठंडी ही निश्वासें छोड़,
विनयपूर्वक पूछा नृप ने छूकर चरण युगल कर जोड़।
हे मुनिनाथ नहीं कुछ कहते मेरे सुताभाग्य का हाल,
तुम त्रिकालदर्शी हो सब कुछ जान लिया होगा तत्काल।
फिर इतना संकोच मुनि क्यों, भला-बुरा जो कुछ हो फल,
कह दीजे विधि ने जो लिक्खा, इसमें किसका चलता चल।
यदि ललाट में दुःख लिखा है, नहीं कभी सकता है टल,
जो ग्रह हो बलवान चाल के तो कुदृष्टि नहिं सकती चल।
चौंक पड़े नारद सुन बानी मन में कुछ लज्जित होकर,
सोचा कैसी भूल हुई है, पाया क्या मन को खोकर।

बोले तुरत सँभल भूपति से भाग्यवान् यह है बाला,
होगा अमर अजर विजयी वर, जिसे पिन्हाएगी माला।
अचल रहे सिंदूर माँग में मनमोहन यह पावे वर,
वर देकर मुनिराय सिधारे चिंतित-हृदय झुकाए सर।

रामधारीसिंह 'दिनकर'

'दिनकर' जी सिमरिया ज़िला मुंगेर के निवासी हैं और मधुबनी में रजिस्ट्री विभाग में सबरजिस्टार के पद पर काम कर रहे हैं। पटना विश्वविद्यालय के ग्रेजुएट और 'रेणुका' तथा 'हुंकार' दो कविता-पुस्तकों के रचयिता हैं। 'हुंकार' में उनकी साम्यवाद की संकेत और संदेशवाहिनी कविताओं का संकलन है।

दिनकरजी की भाषा में ओज है, भावों में विगत वैभव का गायन और भावी स्वर्ण-विहान की स्वप्नदर्शिता। वे अन्तर्वेदना के कुशल चितेरे हैं। उस अन्तर्वेदना को उन्होंने राष्ट्र के अतीत में ऐसा विजड़ित कर दिया है कि वह राष्ट्र का प्रतीक होता है। 'दिनकर' जी की वाणी में आवेश है, स्वरों में प्रगतिशीलता की वैसी ही प्रभापूर्ण अभिव्यक्ति जैसी 'नवीन' और 'अँचल' में है।

'दिनकर' के कविताओं में कहीं-कहीं हमारे जीवन के सुन्दर चित्र उतरे हैं—

> "विद्युत छोड़ दीप साजूँगी महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश।
> तुम कुटिया के बनो भिखारी, मैं भिखारिनी का लूँ वेश।
> स्वर्णखिला श्रद्धा खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम-परी।
> रोमन्थन करती आती है दूब चचरती गाय हरी।
> घर घर से उठ रहा धुँआ जलते चूल्हे बारी बारी।
> चौपालों में बैठ कृषक गाते कँह अटके बनवारी।"

'रेणुका' कवि का पहिला कविता-संग्रह है। उस समय तक कवि अन्तर्व्यथा का चित्रकार है और भारत के अतीत गौरव का गान करता है। परन्तु हुंकार में तो शोषकों के विरुद्ध जेहाद बोलकर कवि

शोषितों के मूक व्यक्तित्व को मानो हुंकार दे दी है। भूखे प्यासों का प्राणहीन अचंचल अवसाद कहीं कहीं उनकी कविता में ज्यों का त्यों उतर आया है। यह युगधर्म की ज्वाला आज हिन्दी में प्रायः प्रत्येक प्रतिभाशाली कवि को अपनी आँच से व्याकुल कर रही है और यह अति हर्ष का विषय है कि हिन्दी कविता आज सपनों की मादक अमराई से निकल कर जीवन के बालुकामय तप्त रेगिस्तान में आ रही है। प्रेम और मिलन में सौंदर्य को चित्रित करने की अपेक्षा अब वे एक दूसरी दुनिया के झंझावात अपने शब्दों में बाँध रहे हैं, जो उजाड़ है, सुनसान है जहाँ तृप्ति, हर्ष, उल्लास, शान्ति कहीं कुछ भी तो नहीं है। जहाँ दानों के लाले पड़े रहते हैं और प्रसविनि माँ भूखी सूखे सूखे निचुड़े पयोधरों में नवजात शिशु के मुख दिये जीवन और मृत्यु के बीच संघर्ष किया करती है। इसे किताबी भाषा में हम साम्यवाद या मार्क्सवाद का प्रभाव भले कह लें, परन्तु यह तो ह्यूमैनिज़्म का ही विकास है। अब यह अपनी व्यक्तिगत तृष्णा, क्षुधा, निराशा और रोदन का विषय छोड़कर देश की भूख-प्यास पर उतर आया है।

हर्ष की बात है कि दिनकर की कविताओं में रुदन तो है परन्तु जीवन को नाश की ओर ले जाने वाली उसकी प्रतिक्रिया नहीं। वे एक सुप्त अंगार-माला हैं जो क्षण भर को शान्त रहते हैं—फिर क्षण भर में ही दहक उठते हैं। यद्यपि कुछ कविताओं में कहीं-कहीं उन्होंने जीवन-रहस्य के अनुसन्धान की स्तुत्य चेष्टा की है। परन्तु प्राणों को मर्दित करनेवाली भाव-धारा का अबाध वेग तो उनकी विप्लववादिनी कविताओं में आ पाया है। जिन्हें क्रमशः पीड़ा से विकल होकर आह भरने की भी इजाज़त नहीं है—जो आजीवन स्वगत क्रन्दनों में ही निचुड़ते रहते हैं, उन कोटि-कोटि नर-कीटों की करुणाकथा और असन्तोष यदि कवि की रचनाओं में लहराती यमुना का प्रवाह लेकर फूट पड़ा तो कवि की कलम में भी जागरण और अदम्य ओज आ ही

राग फूटता है। हमें हर्ष है कि हमारे नवयुग के स्वप्नदर्शी कवियों में 'दिनकर' का विशिष्ट स्थान है।

'दिनकर' हिन्दी के ख्याति-प्राप्त कवि हैं। उनकी एक दो कविताओं का गुजराती में अनुवाद भी हो चुका है। विहार के प्रगतिशील कवियों में, हमारा ख़्याल है 'दिनकर' को लेकर शेष को आसानी से छोड़ा जा सकता है, यद्यपि यहाँ 'द्विज' जी का स्मरण आ जाता है।

दिनकर जी की अभी दो पुस्तकें निकट भविष्य में और निकलने जा रही हैं। रसवन्ती उनकी अपेक्षाकृत मधुर और मीठी रचनाओं का संग्रह होगा। परन्तु दिनकर का जो व्यक्तित्व है—जैसा प्रत्येक सुकवि का होता है, वह उनकी हुंकार—उनकी विद्रोह-शिखा में ही है। उन्होंने विहार प्रान्त को गौरान्वित किया है।

हाहाकार

दिव की ज्वलित शिखा सी उड़ तुम जब से लिपट गईं ज
वृषारम्भ में धून रहा कविते! तब से व्याकुल लि
घर-घर देखा धुआँ धरा पर, सुना विश्व में आग
जल ही जल जन-जन रटते हैं, कण्ठ-कण्ठ में प्यास ज
सूख गया रस श्याम-गगन का एक बूँद विष जग का
ऊपर ही ऊपर जल जाते सृष्टि-ताप से पावस-
मनुज-वंश के अश्रु-योग से जिस दिन हुआ सिन्धु-जल
गिरि ने चीर लिया निज उर में ललक पड़ा खरा जल की
पर विस्मित रह गया, लगी पीने जब वही मुझे सुधि खो
कहती 'गिरि को फाड़ चली हूँ मैं भी बड़ी पिपासित हो

यह वैषम्य नियति का मुझ पर; किस्मत बड़ी धन्य उन कवि
जिनके हित कविते, बनती तुम झाँकी नग्न अनावृत छवि की
दुखी विश्व से दूर जिन्हें लेकर आकाश-कुसुम के वन में
खेल रही तुम अलस-जलद सी किसी दिव्य नन्दन-कानन में
भूषण, वसन जहाँ कुसुमों के कहीं कुलिश का नाम नहीं है
दिनभर सुमन-हार-गुम्फन को छोड़ दूसरा काम नहीं है।
ही धन्य जिनको लेकर तुम बसी कल्पना के शतदल पर
उनका स्वप्न तोड़ पाती है मिट्टी नहीं चरण-तल बजकर

ी भी यह चाह विलासिनि! सुन्दरता को शीश झुकाऊँ
धर-जिधर मधुमयी बसी हो उधर वसन्तानिल बन धाऊँ

एक चाह कवि की यह देखूँ छिपकर कभी पहुँच मालिनि-तट
किस प्रकार चलती मुनिबाला यौवनवती लिये कटि पर घट
झाँकूँ उस माधवी-कुञ्ज में जो बनरहा स्वर्ग कानन में
प्रथम परस की जहाँ लालिमा सिहर रही तरुणी-आनन में
जनरव से दूर स्वप्न में मैं भी निज संसार बसाऊँ
जग का आर्त्तनाद सुन अपना हृदय फाड़ने से बच जाऊँ
मिट जाती ज्यों किरण विहँस सारा दिन कर लहरों पर झिलमिल
खो जाऊँ त्यों हर्ष मनाता मैं भी निज स्वप्नों से हिल मिल।

पर नभ में न कुटी बन पाती मैंने बीसों युक्ति लगाई
आधी मिटती कभी कल्पना, कभी उजड़ती बनी बनाई
रह-रह पंखहीन खग सा मैं गिर पड़ता भू की हलचल में
झटिका एक बहा ले जाती स्वप्नराज्य आँसू के जल में
कुपित देव की शाप-शिखा जब विद्युत बन सिर पर छा जाती
उठता चीख हृदय विद्रोही अन्ध भावनाएँ जल जातीं।

निरख प्रतीची रक्त-मेघ में अस्त-प्राय रवि का मुखमण्डल
पिघल पिघलकर चू पड़ता है दृग से क्षुभित, विवश अन्तस्तल
रणित विषम रागिणी मरण की आज विकट, हिंसा-उत्सव में
दबे हुए अभिशाप मनुज के उगने लगे पुनः इस भव में

शोणित से रँग रही शुभ्र-पट संस्कृति निठुर लिये करवालें
जला रही निज सिंहपौर पर दलित-दीन की अस्थि-मशालें

घूम रही सभ्यता दानवी 'शान्ति ! शान्ति!' करती भूतल में
पूछे कोई भिंगो रही वह क्यों अपने विषदन्त गरल में
टाँक रही हो सुई चर्म पर शान्त रहें हम, तनिक न डोलें
यही 'शान्ति' गरदन कटती हो पर हम अपनी जीभ न खोलें
बोलें कुछ मत क्षुधित रोटियाँ श्वान छीन खायें यदि कर से
यही "शान्ति" जब वे आवें हम निकल जाँय चुपके निज घर से
हब्शी पढ़ें पाठ संस्कृति के खड़े गोलियों की छाया में
यही शान्ति ! वे मौन रहें जब आग लगे उनकी काया में

चूस रहे हों दनुज रक्त पर हों मत दलित प्रबुद्ध कुमारी
हो न कहीं प्रतिकार पाप का, शान्ति या कि यह युद्धकुमारी !

जेठ हो कि हो पूस हमारे कृषकों को आराम नहीं है
छुटे बैल का सङ्ग कभी जीवन में ऐसा याम नहीं है
मुख में जीभ, शक्ति भुज में, जीवन में सुख का नाम नहीं है
वसन कहाँ ! सूखी रोटी भी मिलती दोनों शाम नहीं है
बैलों के ये बन्धु वर्षभर क्या जाने कैसे जीते हैं
जबाँ बन्द, भरती न आँख, गम खा शायद आँसू पीते हैं !

पर, शिशु का क्या हाल सीख पाया न अभी जो आँसू पीना !
चूस-चूस सूखा-स्तन माँ का सो जाता रो विलप नगीना
विवश देखती माँ अंचल से नन्हीं जान तड़प उड़ जाती
. . रक्त पिला देती यदि फटती आज वज्र की छाती

कब-कब्र में अबुध बालकों की भूखी हड्डी रोती है
"दूध ? दूध ?" की कदम-कदम पर सारी रात सदा होती है
"दूध ? दूध ?"...ओ वत्स, मन्दिरों में बहरे पाषाण यहाँ हैं
"दूध ? दूध ?"...तारे बोलो, इन बच्चों के भगवान कहाँ हैं ?
"दूध ? दूध ?"...दुनियाँ सोती है, लाऊं दूध कहाँ किस घर से
"दूध ? दूध"...हे देव गगन के, कुछ बूँदें टपका अम्बर से
"दूध ? दूध ?"...गङ्गा तू ही अपने पानी को दूध बना दे
"दूध ? दूध ?"...उफ, है कोई भूखे मुर्दों को ज़रा मना दे
"दूध ? दूध ?"...फिर "दूध ?" अरे क्या याद दूध की खो न सकोगे ?
"दूध ? दूध"...मर कर भी क्या तुम बिना दूध के सो न सकोगे ?
वे भी यहाँ दूध से जो अपने श्वानों को अन्हवाते हैं
ये बच्चे भी यहीं कब्र में "दूध दूध ?" जा चिल्लाते हैं !
बेकसूर नन्हें देवों का शाप विश्व पर पड़ा हिमालय ?
हिला चाहता मूल सृष्टि का देख रहा क्या खड़ा हिमालय !
"दूध ? दूध ?"...फिर सदा कब्र की आज दूध लाना ही होगा
जहाँ दूध के घड़े मिलें उस मंजिल पर जाना ही होगा
जय मानव की धरा साक्षिणी ! जय विशाल अम्बर की जय हो
जय गिरिराज ! विन्ध्यगिरि जय ! जय ! हिन्दमहासागर की जय हो
हटो व्योम के मेघ पन्थ से, स्वर्ग लूटने हम आते हैं
"दूध ? दूध ?"...ओ वत्स ! तुम्हारा दूध खोजने हम जाते हैं।

कविता की पुकार

आज न उडु के नील-कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों से चित्र बनाऊंगी
अधरों में मुसकान न लाली वन-कपोल में छाऊंगी
कवि ! किस्मत पर भी न तुम्हारी, आंसू आज बहाऊंगी।

नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवन-स्वर्ग ग्रामों में कर पाई न विहार
आज यह राज वाटिका छोड़
चलो कवि ! वन फूलों की ओर

चलो जहां निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल झूलता, भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्यों चमार
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार
कब्र पर मैं कवि रोऊंगी
जुगनु-आरती सँजोऊंगी।

विद्युत छोड़ दीप साजूँगी, महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश
तुम गावों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूँ वेश
स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी संध्या श्याम-परी
रोमन्थन करती आती है गाय कुचलती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुआं जलते चूल्हे बारी-बारी
[illegible] में कृषक बैठ गाते "कहँ अटके बनवारी"

पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार
किस भाँति ढोती गागर, यौवन दुर्वह भार
बनूँगी मैं कवि इसकी माँग
कलस, काजल, सिन्दूर, सुहाग
वनतुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है
मन्दिर की घराटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
"भैय्या, लिख दे एक कलम खत मो बालम के योग
चारो कोने खेम-कुशल, माझे ठाँ मोर वियोग"
दूतिका मैं बन जाऊँगी
सखी, सुधि उन्हें सुनाऊँगी
पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत-माँ का पुण्य तरल
भक्ति-अश्रु धारा सी निर्मल गङ्गा बहती है अविरल
लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती-गान
भुवन स्वर्ग बन रहा उड़े जाते ऊपर को प्राण
पुजारिन की बन गीत-हिलोर
भिगो दूँगी अग-जग के छोर
कवि ! असाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो

कविता की पुकार

आज न उडु के नील-कुंज में स्वप्न खोजने जाऊंगी
आज चमेली में न चन्द्रकिरणों से चित्र बनाऊंगी
अधरों में मुसकान न लाली वन-कपोल में छाउंगी
कवि! किस्मत पर भी न तुम्हारी, आंसू आज बहाऊंगी।
नालन्दा-वैशाली में तुम रुला चुके सौ बार
धूसर भुवन-स्वर्ग ग्रामों में कर पाई न विहार
आज यह राज वाटिका छोड़
चलो कवि! वन फूलों की ओर
चलो जहां निर्जन कानन में वन्य कुसुम मुसकाते हैं
मलयानिल भूलता, भूलकर जिधर नहीं अलि जाते हैं
कितने दीप बुझे झाड़ी-झुरमुट में ज्यों चमार
चले शून्य में सुरभि छोड़कर कितने कुसुम-कुमार
कब्र पर मैं कवि रोऊंगी
जुगुनु-आरती सँजोऊंगी।
विद्युत छोड़ दीप साजूंगी, महल छोड़ तृण कुटी प्रवेश
तुम गांवों के बनो भिखारी, मैं भिखारिणी का लूं वेश
स्वर्णांचला अहा खेतों में उतरी सन्ध्या श्याम-परी
रोमन्थन करती आती है गाय कुचलती घास हरी
घर-घर से उठ रहा धुआं जलते चूल्हे बारी-बारी
चौपालों में कृषक बैठ गाते "कहँ अटके बनवारी"

पनघट से आ रही पीतवसना युवती सुकुमार
किस भाँति ढोती गागर, यौवन दुर्वह भार
बनूँगी मैं कवि इसकी माँग
कलस, काजल, सिन्दूर, सुहाग
वनतुलसी की गन्ध लिये हलकी पुरवैया आती है
मन्दिर की घराटा-ध्वनि युग-युग का सन्देश सुनाती है
टिम-टिम दीपक के प्रकाश में पढ़ते निज पोथी शिशुगण
परदेशी की प्रिया बैठ गाती यह विरह-गीत उन्मन—
"भैय्या, लिख दे एक कलम खत मों बालम के योग
चारों कोने खेम-कुशल, माँझे ठाँ मोर वियोग"
दूतिका मैं बन जाऊँगी
सखी, सुधि उन्हें सुनाऊँगी
पहन शुक्र का कर्णफूल है दिशा अभी भी मतवाली
रहते रात रमणियाँ आईं ले-ले फूलों की डाली
स्वर्ग-स्रोत, करुणा की धारा, भारत-माँ का पुण्य तरल
भक्ति-अश्रु धारा सी निर्मल गङ्गा बहती है अविरल
लहर-लहर पर लहराते हैं मधुर प्रभाती-गान
भुवन स्वर्ग बन रहा उड़े जाते ऊपर को प्राण
पुजारिन की बन गीत-हिलोर
भिगो दूँगी अग-जग के छोर
कवि ! असाढ़ की इस रिमझिम में धन खेतों में जाने दो
कृषक-सुन्दरी के स्वर में अटपटे गीत कुछ गाने दो

दुखियों के केवल-उल्लास में इस दम पर्व मनाने दो
रोऊंगी खलिहानों में, खेतों में तो हर्षाने दो
मैं बच्चों के सङ्ग ज़रा खेलूंगी दूब-बिछौने पर
मचलूंगी मैं ज़रा इन्द्रधनु के रङ्गीन खिलौने पर
तितली के पीछे दौड़ूंगी, नाचूंगी दे दे ताली
मैं मकई की सुरभि बनूंगी, पके आमफल की लाली
वेणु-कुँज में जुगनू बन मैं इधर-उधर मुसकाऊंगी
हर-सिङ्गार की कलियां बन मैं बधुओं पर झड़ जाऊंगी
सूखी रोटी खायेगा जब कृषक खेत में धरकर हल
तब दूंगी मैं तृप्ति उसे बनकर लोटे का गङ्गाजल
उसके तन का दिव्य स्वेदकण बनकर गिरती जाऊंगी
और खेत में उन्हीं कणों से मैं मोती उपजाऊंगी।
शस्य-श्यामता निरख करेगा कृषक अधिक जब अभिलाषा
तब मैं उसके हृदय-स्रोत में उमड़ूंगी बनकर आशा
अर्द्ध-नग्न दम्पति के गृह में मैं झोंका बन आऊंगी
लज्जित हों न अतिथि-सम्मुख वे दीपक तुरत बुझाऊंगी
ऋण शोधन के लिये दूध-घी बेच-बेच धन जोड़ेंगे
बूंद-बूंद बेचेंगे अपने लिये नहीं कुछ छोड़ेंगे।
शिशु मचलेंगे दूध देख जननी उनको बहलायेगी
मैं फाड़ूंगी हृदय लाज से आँख नहीं रो पायेगी
इतने पर भी धनपतियों की उन पर होगी मार
तब मैं बरसूंगी बन बेबस के आँसू सुकुमार

फटेगा भू का हृदय कठोर
चलो कवि वनफूलों की ओर।

दाह की कोयल

[रेगिस्तान में अपनी सरस्वती को देखकर उस पथिक की उक्ति, जिसके कोमल दिन बीत चुके हैं।]

दाह के आकाश में पर खोल
कौन तुम बोलीं पिकी के बोल ?

दर्द में भींगी हुई सी तान
होश में आता हुआ सा गान
याद आई जीस्त की बरसात
फिर गई दृग में उजेली रात।
कांपता उजली कली का वृन्त–
फिर गया दृग में समग्र बसंत
मुँद गईं पलकें खुले जब कान
सज गया हरियालियों का ध्यान
मुँद गई पलकें कि जागी पीर
पीर-बिछुड़ी चीज़ की तस्वीर–
प्राण की सुधि-ग्रन्थि भूली खोल
कौन तुम बोलीं पिकी के बोल ?

दूर छूटी छाँहवाली डाल
दूर छूटी तरु-द्रुमों की माल
दूर छूटा पंछियों का देश
तलहटी का दूर रम्य प्रदेश
कब सुना जानें न जल का नाद
कब मिलीं कलियाँ नहीं कुछ याद
ओस-तृण को आज सिर्फ बिसूर
चल रहा मैं बाग-वन से दूर
शीश पर जलता हुआ दिनमान
और नीचे तप्त रेगिस्तान
छाँह सी मरु-पन्थ में तब डोल
कौन तुम बोलीं पिकी के बोल ?

बालुओं का दाह मेरे ईश !
औ' गुमरते दर्द की यह टीस !
सोचता विस्मित खड़ा मैं मौन
खोजती आई मुझे तुम कौन
कौन तुम ओ कोमले, अनजान !
कौन तुम ? किस रोज की पहचान !
हाँ, जरा सी याद भूली बात
दूध की धोई उजेली रात—
जब किरण-हिंडोर पर सामोद
स्यात् भूली बैठ मेरी गोद।

या कहीं उषा-गली में प्राण !
घूमते तुम से हुई पहचान !
तारकों में या निर्यात की बात
पढ रहा था जब कि पिछली रात
तुम मिली ओढ़े सुवर्ण-दुकूल
भोर में चुनते विभा के फूल
भूमि में, नभ में कहीं ओ प्राण !
याद है तुम से हुई पहचान !
याद है तुम तो हृदय की पीर
याद है तुम ख्वाब की तसवीर
याद है तुम तो कमल की नाल
मंजरी के पास वाली नर्म कोंपल लाल
इन्द्र की धनुषी सजल रंगीन
खोजती किसको दहकती वायु में उड्डीन
दाह के आकाश में पर खोल
बोलने आई पिकी के बोल

चिलचिलाती धूप का यह देश
कल्पने ! कोमल तुम्हारा वेष
लाल चिनगारी यहाँ की धूल
एक गुच्छा तुम जुही के फूल
दाह में यह ब्याह का संगीत
भूल क्या सकती न पिछली प्रीत !

पड़ चुका है आग में संसार
आज तुम असमय पधारी क्या करूँ सत्कार!
मेरी बावली मेहमान
शेष जो अब भी उसे निज को समर्पित जान
लूह में आशा हरी सुकुमार
दाह के आकाश में मन्दाकिनी की धार
धूप में उड़ती हुई शबनम अरी अनमोल!
कौन तुम बोली पिकी के बोल!
—'रसवन्ती से']

गीत अगीत

गीत अगीत कौन सुन्दर है!
गाकर गीत विरह के तटिनी
वेगवती बहती जाती है
दिल हलका कर लेने को
उपलों से कुछ कहती जाती है
तट पर एक गुलाब सोचता
'देते स्वर यदि मुझे विधाता
अपने पतझड़ के सपनों का
मैं भी जग को गीत सुनाता'
गा-गाकर बह रही निर्झरी
पाटल मूक खड़ा तट पर है
गीत अगीत कौन सुन्दर है!

बैठा शुक उस घनी डाल पर
जो खोते पर छाया देती
पंख फुला नीचे खोते में
शुकी बैठ अंडे है सेती
गाता शुक जब किरण बसंती
छूती अङ्ग पर्ण से छनकर
किन्तु शुकी के गीत उमड़कर
रह जाते सनेह में सनकर
गूँज रहा शुक का स्वर वन में
फूला मग्न शुकी का पर है
गीत अगीत कौन सुन्दर है ?

दो प्रेमी हैं यहाँ, एक जब
बड़े साँझ आल्हा गाता है
पहला स्वर उसकी राधा को
घर से यहाँ खींच लाता है
चोरी-चोरी खड़ी नीम की
छाया में छिपकर सुनती है
'हुई न क्यों मैं कड़ी गीत की
बिधना', यों मन में गुनती है
वह गाता, पर किसी वेग से
फूल रहा इसका अन्तर है
गीत अगीत कौन सुन्दर है !

उदयशंकर भट्ट

आपका जन्म संवत् १६५५ वि० है। आप औदीच्य ब्राह्मण हैं। आप आगरा के निवासी हैं; किन्तु इस समय रहते लाहौर में हैं। संस्कृत, हिन्दी और गुजराती भाषा-साहित्य के आप पण्डित हैं और अँगरेज़ी-भाषा-साहित्य का भी आपको अच्छा ज्ञान है। आप मूलत कवि हैं और तब नाटककार। लगभग पन्द्रह वर्ष से आप हिन्दी-साहित्य की सेवा कर रहे हैं। 'मत्स्यगन्धा' 'मानसी' 'तक्षशिला' तथा 'विसर्जन' नामक कई काव्य आपके प्रकाशित हो चुके हैं। इन काव्यों का हिन्दी-जगत् ने अच्छा स्वागत किया है। हिन्दी-कविता की आधुनिक धारा में आपका महत्वपूर्ण स्थान है और पंजाब प्रान्त के तो आप सर्वश्रेष्ठ कवि और साहित्यकार हैं। आपने दस नाटक लिखे हैं और इस क्षेत्र में इस समय आप अद्भुत प्रतिभा के साथ अग्रसर हो रहे हैं।

इसके सिवा आप एकांकी नाटककार भी हैं। हिन्दी में एकांकी नाटक लिखनेवाले अभी इने-गिने हैं। ललितसाहित्य की इस शाखा को पनपानेवाला जो पहला दल (Batch) सामने देख पड़ता है, निर्विवाद रूप से भट्ट जी उसमें अग्रगण्य हैं।

भट्टजी की काव्य-प्रेरणा का मूलाधार अनुभूति है। उनकी कल्पनाएँ मानवता के आत्म-पीड़न का गीत गाती हुई प्रतीत होती हैं। हृदय से वे भावुक हैं, किन्तु उनकी कवि-चेतना इतनी जाग्रत है कि जीवन-संघर्ष के अनन्त हाहारव में भी वह प्रगति का ही स्वप्न देखती चलती है।

किंतु भट्टजी की अनुभूति एकांगी नहीं है। स्थितिजन्य, असामनता-गर्भित शृङ्खलाओं में विजड़ित, जीवन की मर्मान्तक व्यथा का चित्रण

उन्होंने अत्यन्त आत्म-विभोर होकर किया है। छायावाद की भाव-धाराओं के साथ-साथ वहाँ कवि अपनी परिपक्व अभिव्यञ्जना में झलक उठा है। कभी-कभी तो सन्देह होने लगता है कि क्या कवि जीवन में एकमात्र व्यथा का द्रष्टा है, अन्धकाराच्छन्न पथ का—लक्ष्य के अनुसंधान में निरत—एक भ्रमित बटोही ? यद्यपि वहाँ भी असफलताओं के प्रति उसमें रुदन नहीं है, चीत्कार नहीं है—जिज्ञासा है, अन्वेषण है। जान पड़ता है, कुतूहल भी है, तिनके के रूप में उड़नेवाली क्षणस्थायी भावनाओं को भी कवि अछूता नहीं छोड़ना चाहता। जान पड़ता है, कवि का मन उन्मुक्त गगन का पंछी हो गया है और पंख खोलकर उड़ने के रसानुभूति की प्रति चिरविरक्ति रखना उसको सहन नहीं है। ऐसा भी बोध होता है कि अमानिशा के तिमिरावृत पथ में पहुँचकर भी कवि आशा को वक्ष से लिपटाये हुए है, किन्तु वहीं पर भट्ट जी का कवि भावुकता से विलग होकर बौद्धिक हो गया है। यथा—

यह नभ मेरा आलोकदीप,
मैं इसकी मधुर किरण चंचल।

भट्ट जी के काव्य-प्रवाह की एक दूसरी दिशा भी है। और वह है हमारे आज के जीवन की विवशताओं के प्रति मानवी विद्रोह की सिंह-गर्जना। इस दिशा में अग्रसर होकर वे भावुकता से निस्संदेह बहुत ऊपर उठ गये हैं। जीवन के राग-द्वेष, प्रवंचना, अपहरण, शोषण और विनाश को विभीषिकाओं का चित्रण उन्होंने किया है। समाज के कशाघात से जर्जरित नारी, किसान और मजदूर वर्ग की मर्मान्तक पीड़ाओं को उन्होंने कवि की वाणी दी है। किन्तु इन स्थितियों के प्रति विद्रोही मानव का कोरा दम्भ उन्होंने ग्रहण नहीं किया। धार्मिक प्रतिघात पर उनकी आस्था भी नहीं है। जीवन में असफलता की सत्ता को वे स्वीकार करते हैं। जान पड़ता है, वे मानते

हैं कि दुःख भी सुख आलम्बन है। प्रतीत होता है कि आकाशगामी होते भी हुए उनके पैर मानवी धरातल पर ही रहते हैं। फूल को देखकर काँटों की उग्रता और कठोरता के प्रति भी उनकी दृष्टि रहती है। ऐसे स्थलों पर कवि अपने पूर्ण यथार्थवादी रूप में विकसित हुआ है। यथा–

तुम न जानोगे कि कितने
गरल के घट पी चुका हूँ।
तुम न समझोगे कि कितने
दुःख पीकर जी चुका हूँ।

किंतु भट्टजी की भावधाराओं की बात उठाते समय उनके साहचर्य से प्राप्त कुछ क्षणों की स्मृतियाँ आज मेरे सामने परम उज्ज्वल हो उठी हैं। तभी उनके व्यावहारिक जीवन के साथ उनकी काव्य-प्रवृत्तियों को मिलाकर जो देखता हूँ, तो ऐसा जान पड़ता है, मानों यह सब फीका है। प्रगतिशीलता के इस युग में भी ,भट्टजी साहित्यकार के नाते वास्तव में एक साधक हैं। उनमें एक Broad human sympathy है। अत्यन्त संयमशील होते हुए भी सहृदयता के नाते वे रत्नाकर हैं। गम्भीरता उनमें इतनी है कि दूर से देखनेवाले उन्हें समझने में ग़लती कर सकते हैं। वे बात कम करते हैं, सहाय अधिक। उदारता और सज्जनता की तो मूर्ति हैं। उन्हें समझने और आलोचना का पात्र बनाने के लिए उनके सम्पूर्ण साहित्य का अध्ययन अत्यन्त आवश्यक है। एक वाक्य में कहना चाहूँ, तो वे हिन्दी-भाषा-साहित्य के गौरव हैं।

असहाय

पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा, अन्त मेरा
झूल उठता शून्य में मेरा हृदय-उच्छ्‌वास मेरा

ढूँढ़ने जाऊं कहाँ मैं
आँख में आलोक फीका
पैर लरजाने लगे हैं
जी हुआ है भार जी का
उस जग के क्रोध-पूरित
व्यंग्य को दिल खोल सहता
और जग के राग में
इन आँसुओं को घोल कहता

'पागलों के स्वप्न ने उड़ चंद्र-मंडल आज घेरा'
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा, अंत मेरा

कौन ? यह हारिल, अरे तू
थक सकेगा क्या न उड़ता
और तेरा प्राण पंखों से
कभी कुछ कह न कुढ़ता !
तू उड़ा ही जा रहा है
पंख पर अभिलाष लादे

बादलों की छातियों को
चीर देंगे क्या इरादे !

ओ टहर, तुमसे कहीं ऊंचा बढ़ा मेरा अँधेरा
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा, अन्त मेरा

बीन साधन प्राण में
ब्रह्माण्ड का भर तत्व लाया
विश्व का स्मय, राग की लय
सुधा का अमरत्व लाया

पर बिना 'पर' कौन चित्रित कर रहा छिपछिप चितेरा
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा, अन्त मेरा

अरे, शत शत बिजलियों को
मद समझकर पी गया मैं
और यौवन की जलन
पीकर गले तक जी गया मैं
मैं उठा आनन्द सा
बैठा हृदय सा आग यामें
जल रहा है, यह जलेगा
उषा में, सन्ध्या-निशा में

दीप लेकर हाथ में अपना पथानक आप हेरा
उड़ रहा है पंख खोले आदि मेरा, अन्त मेरा

यह सुधा, यह विष प्रणय की
हार में किसने पिरोये
यह जलन, यह शान्ति भर
किसने हृदय के घाव धोये !
यह विरह का, यह जलन का,
दौर यों कब तक चलेगा
पुतलियों से छिले दिल को
ले जगत कब तक जलेगा ?

आँसुओं के तरल पारावार में मेरा बसेरा
पंख खोले उड़ रहा है आदि मेरा, अन्त मेरा

मैं पथिक अवरुद्ध पथ

मैं पथिक, अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ, किस ओर जाऊँ
प्यास का मधु भार लेकर
विश्व में आया अकेला
भावना ने विश्व वैभव
ने मुझे आगे ढकेला

स्वप्न की उन्मुक्त तरणी
पर स्वजीवन भार ढोया
जागरण में स्वप्न खोये
स्वप्न में संसार खोया

सुनो, युग युग की शिथिल
सब श्रृंखलाएँ तोड़ डालीं
श्वास पर अंकित व्यथाएँ
प्यार के नीचे छिपा लीं

तुम न जानोगे कि कितने
गरल के घट पी चुका हूँ
तुम न समझोगे कि कितने
दुःख पीकर जी चुका हूँ

आज रागों में न जाने
कालभैरव बोलता क्यों
आज आँखों में न जाने
तिमिर कोई घोलता क्यों !

किन्तु मैंने यही देखा
एक मैं आशा अनेकों
एक छोटा दिल न जाने
प्यास क्यों उसमें अनेकों

एक यौवन की लहर
आघात उस पर हैं अनेकों

एक जीवन, पर मरण के
दूत मुँह बाये अनेकों

स्कन्ध निर्बल, सैकड़ों दुखभार, यह कैसे उठाऊँ
मैं पथिक अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ, किस ओर जाऊँ

सामने यह लपलपाती
ज्वाल प्रलयकर जली है

और पीछे बाघिनी सी
मृत्यु भी आती चली है

इधर नभ को चूमनेवाला
भयावह गिरि खड़ा है

उधर यह उत्तुंग लहरों
पर उछलता नद अड़ा है

शून्यपाल, विहीन धनु शर,
नाव टूटी, पैर निबल

साँझ आती है घिरी, बढ़ती
अमा की रात पल पल

है नहीं विश्वास, साहस
पास, स्मृतियाँ वह पुरानी

सौंप आया प्रियजनों को
प्राण सी यौवन कहानी

नभ गिरा जाता धरा पर
बोझ ले उन्माद का सब

काल का यह मास सी
खाने चली बिजली धरा अब

दिशा भूलीं, पन्थ भूला,
ज्ञान जाने किधर खोया

हाय, छोटे से हृदय पर
क्यों यहाँ अनुराग ढोया !

गिना करतीं तारिकाएँ
नित्य उठ अपनी व्यथाएँ

पुष्प के रमय से बसन्ती
प्यार की गीली कथाएँ

जो जवानी गुदगुदी
उल्लास में भर नित्य पीती

जो खिला मधु मास सा
प्रिय-हास पीकर नित्य जीती

जो कटीली भौंह का
निक्षेप शर पी जी रही थी

अमृत की शत निर्झरी सी
लहर से सुख सी रही थी

जो नशीली आँख सी
जग में विजयिनी हो रही थी

जो कली औ' कुसुम के
अवकाश सी नव हो रही थी

आज वे उल्लास रवि सम
तिमिर पारावार डूबे

जागरण में आज मुझमें
स्वप्न के सम हार ऊबे

आज जीवन का निपीड़ित
मरण घन कंकाल हूँ मैं

आज मणि से हीन, गत मद
सँपेरे का व्याल हूँ मैं

बढ़ रही है आग चारों ओर अब किसको पुकारूँ
मैं पथिक, अवरुद्ध पथ, कैसे, कहाँ, किस ओर जाऊँ !

—

मैं और यह

यह नभ मेरा आलोक-दीप मैं इसकी मधुर किरण ·
मैं वहन कर रहा हूँ सुख-दुख, यह जीवन-मरण वहन पल
मैंने आँसू के किये मेघ अपने आहों को विकल
पर इसने लिख-लिख विसराया रजनी की साँसों में प्र

अनजानी-सी सम्मुख आकर
वह नियति खड़ी हो दूर पार
इंगित से देती दीप दान
इंगित से भरती अंधकार

कहती—कलियों के छिपी ओठ, यूथी सुमनों से कर विल
कल रे कल, भर कर अट्टहास, आएगा घन घन कर विना
हँस लो रे हँस लो, सुमन आज, वह क्षितिज खोलता ले मराल
सागर के भीतर गगन भाल, कुंचित कर भू के केश जाल

संध्या की आँखों में कसार
नभ का वक्षस्थल चीर-चीर
आजानुलम्ब आँचल पसार
मद मग्न ग़रल-सी भरे पीर

ले अमृत सिक्त नीहार शुभ्र, छाती में भर कर नव दुलार
औ' खोल गरल की प्रलय वीचि, फैला सागर में ज्वार-ज्वार
हीरक-सा शुभ नयनाभिराम, आस्वादित स्वर तर तपोधाम
रजनी को देगा अंधकार, दिन को देगा आलोक वाम

कुसुमों को देकर सजल हास
कलि को स्वर्मों से कर विभोर,
दिल में मीठी-सी साध डाल
हँस मसल रहा सुख पोर-पोर

वह छोड़रहा है देख देख, साँसों से मेरा ही विनाश
वह पीता जाता है पल पल, साँसों से जीवन का विलास
वह देख रहा है एक आँख से, नर विनाश का खुला द्वार
वह देख रहा है एक आँख से, नर जीवन सागर अपार

मैंने पाये दो अभय दान—
लघु अश्रु, हृदय भी महा, प्रेम
अपने मानव के प्रति अगाध
अर्पण करना सुख सकल क्षेम

मैंने पाये वरदान अमर—दो, प्राण—एक से सृजन विश्व
औ' प्राण दूसरे से पालन—है वही दया-धन-बल अदृश्य
मैंने पाये दो हाथ साथ—है एक पर अभय दान दीन
है एक भरण के लिये निखिल, पीड़ित संताड़ित को अहीन

मैं और यह

यह नभ मेरा आलोक-दीप मैं इसकी मधुर किरण चंचल
मैं वहन कर रहा हूँ सुख-दुख, यह जीवन-मरण वहन पल-पल
मैंने आँसू के किये मेघ अपने आहों की विकल रात
पर इसने लिख-लिख बिखराया रजनी की साँसों में प्रभात

अनजानी-सी सम्मुख आकर
वह नियति खड़ी हो दूर पार
इंगित से देती दीप दान
इंगित से भरती अंधकार

कहती—कलियों के छिपी ओठ, यूथी सुमनों से कर विलास
कल रे कल, भर कर अट्टहास, आएगा बन बन कर विनाश
हँस लो रे हँस लो, सुमन आज, वह क्षितिज खोलता ले मशाल
सागर के भीतर गगन भाल, कुंचित कर भू के केश जाल

संध्या की आँखों में असार
नभ का वक्षस्थल चीर-चीर
आजानुलम्ब आँचल पसार
मृदु मुग्ध गरल-सी भरे पीर

ले अमृत सिक्त नीहार शुभ्र, छाती में भर कर नव दुलार
औ' खोल गरल की प्रलय वीचि, फैला सागर में ज्वार-ज्वार
हीरक-सा शुभ नयनाभिराम, आस्वादित स्वर तर तपोधाम
रजनी को देगा अंधकार, दिन को देगा आलोक वाम

कुसुमों को देकर सजल हास
कलि को स्वप्नों से कर विभोर,
दिल में मीठी-सी साध डाल
हँस मसल रहा सुख पोर-पोर

वह छोड़ रहा है देख देख, साँसों से मेरा ही विनाश
वह पीता जाता है पल पल, साँसों से जीवन का विलास
वह देख रहा है एक आँख से, नर विनाश का खुला द्वार
वह देख रहा है एक आँख से, नर जीवन सागर अपार

मैंने पाये दो अभय दान—
लघु अश्रु, हृदय भी महा, प्रेम
अपने मानव के प्रति अगाध
अर्पण करना सुख सकल क्षेम

मैंने पाये वरदान अमर—दो, प्राण—एक से सृजन विश्व
औ' प्राण दूसरे से पालन—है वही दया-घन-बल अदृश्य
मैंने पाये दो हाथ साथ—है एक पर अभय दान दीन
है एक मरण के लिये निखिल, पीड़ित संताड़ित को अहीन

मैं और यह

यह नभ मेरा आलोक-दीप मैं इसकी मधुर किर
मैं वहन कर रहा हूँ सुख-दुख, यह जीवन-मरण वह
मैंने आँसू के किये मेघ अपने आहों की
पर इसने लिख-लिख बिखराया रजनी की साँ

अनजानी-सी सम्मुख आकर
वह नियति खड़ी हो दूर पार
इंगित से देती दीप दा
इंगित से भरती अंधः

कहती—कलियों के छिपी ओठ, यूथी ग
कल रे कल, भर कर अट्टहास, आएगा
हँस लो रे हँस लो, सुमन आज, वह दि
सागर के भीतर गगन भाल, दुं

संध्या की आँ

नरेन्द्र शर्म्मा

जन्म—संवत् लगभग १६७० वि० निवास-स्थान जहाँगीरपुर, ज़िला बुलन्दशहर।

प्रयाग-विश्वविद्यालय से एम० ए० करके ये कुछ दिनों तक दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में रहे, तदनन्तर कई वर्ष तक अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के आफ़िस में रहकर अब काशी विद्यापीठ में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत' तथा 'पलाशवन' इनके कविता-संग्रह हैं।

कवि रूप में इनका जन्म प्रेमानुभूति के क्षेत्र में हुआ। प्रेम, मिलन, वियोग, विच्छेद तथा निराशा इनकी काव्य-प्रेरणा की पृष्ठ-भूमि थी। वह गीति काव्य के पूर्वार्द्ध का आदिकाल था। युग की भाव-धाराओं के साथ बढ़ते जाना इनके लिए अवश्यम्भावी था। यद्यपि उस दिशा में भी ये अपनी एक विशेषता रखते आये हैं। उस युग के अन्य कवियों में जहाँ निराशा और नियति के कशाघात की व्याकुलता है, वहाँ अनन्त के स्वप्न तथा रहस्य के अनुसन्धान में कहीं-कहीं वे धुँधले देख भी पड़ते हैं। अभिव्यञ्जना में जहाँ सजीवता होनी चाहिए, वहाँ अस्पष्टता है, जहाँ आशा की किरण हम देखना चाहते हैं, वहाँ 'कहीं कुछ नहीं है' जैसा एक निस्सहाय, निस्संबल, अस्तङ्गत मन का निःश्वास हमें मिलता है। ऐसी स्थिति में नरेन्द्र की विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपने गीत वीणा के तार-तार की प्रायः सम्मिलित-निश्चित और कभी-कभी तो आवश्यकतानुसार पृथक्-पृथक् झंकार से भी, तन्मयता के साथ, उपस्थित किये हैं। यद्यपि अपनी इस विशिष्टता में कहीं-कहीं

मैंने पाये दो पैर सबल
गति एक, प्रगति को ऊपर प्रौढ़
स्थिरता जीवन की कला लिये
होती जागृति की सफल दौड़

है रहा विश्व को वह ढकेल पीड़ित प्राणों से खेल खेल
नव नव विकाश में महामास भरता कर दुख की रेल-पेल
आँखों में भरकर विजय-वहि्न वह बुला रहा है पोर-पोर
मैं अपनी आशा की समाधि पर चढ़ा रहा हूँ माल फोड़

नरेन्द्र शर्म्मा

जन्म—संवत् लगभग १९७० वि० निवास-स्थान जहाँगीरपुर, ज़िला बुलन्दशहर।

प्रयाग-विश्वविद्यालय से एम्० ए० करके ये कुछ दिनों तक दैनिक 'भारत' के सम्पादकीय विभाग में रहे, तदनन्तर कई वर्ष तक अखिलभारतीय कांग्रेस-कमिटी के आफ़िस में रहकर अब काशी विद्यापीठ में अध्यापन कार्य कर रहे हैं। 'प्रभातफेरी', 'प्रवासी के गीत' तथा 'पलाशवन' इनके कविता-संग्रह हैं।

कवि रूप में इनका जन्म प्रेमानुभूति के क्षेत्र में हुआ। प्रेम, मिलन, वियोग, विच्छेद तथा निराशा इनकी काव्य प्रेरणा की पृष्ठ-भूमि थी। यह गीति काव्य के पूर्वार्द्ध का आदिकाल था। युग की भाव-धाराओं के साथ बहते जाना इनके लिए अवश्यम्भावी था। यद्यपि उस दिशा में भी ये अपनी एक विशेषता रखते आये हैं। उस युग के अन्य कवियों में जहाँ निराशा और नियति के कशाघात की व्याकुलता है, वहाँ अनन्त के स्वप्न तथा रहस्य के अनुसन्धान में कहीं-कहीं वे धुँधले देख भी पड़ते हैं। अभिव्यञ्जना में जहाँ सजीवता होनी चाहिए, वहाँ अस्पष्टता है, जहाँ आशा की किरण हम देखना चाहते हैं, वहीं 'कहीं कुछ नहीं है' जैसा एक निस्सहाय, निस्संबल, अस्तङ्गत मन का निःश्वास हमें मिलता है। ऐसी स्थिति में नरेन्द्र की विशेषता यह रही है कि उन्होंने अपने गीत वीणा के तार-तार को प्राय: सम्मिलित-निश्चित और कभी-कभी तो आवश्यकतानुसार पृथक्-पृथक् झंकार से भी, तन्मयता के साथ, उपस्थित किये हैं। यद्यपि अपनी इस विशिष्टता में कहीं-कहीं

उन्होंने शरीरगत, मांसल और पृथुल सौन्दर्य को भी अछूता नहीं रहने दिया है।

जन्मत: नरेन्द्र जी रोमैंटिसिज़्म के कवि हैं। यद्यपि अब कवि ने एक करवँट ली है। सोलह आना रोमैंटिक न रह कर वे नवयुग के साथ प्रगतिशील भी हो रहे हैं। किन्तु आज के युग की जो तथाकथित प्रगतिशीलता है, जिसमें आलम्बन विभाव हमारे रात-दिन के स्थूल व्यापार हैं, जिसमें मानवता दारिद्र्य से भाराक्रान्त है, जीवन का आकलन जिसमें केवल शोषण, आर्थिक असमानता और न्यायहीन वितरण को समक्ष रखकर किया जाता है, नरेन्द्र जी का कवि उसीमें तन्मय होकर खो नहीं गया, समाहित होकर सीमित उसी में वह अपने को नहीं पाता और तभी हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि आधुनिक भावधाराओं को अपनाते हुए भी वे मुख्यतया रोमैंटिक कवि हैं।

सितम्बर सन् १९३२ ई० की छपी कवि की एक कविता है—

खोलो अवगुण्ठन खोलो।
प्यासे नयन भ्रमर से आकुल

अधर अधीर मधुर चुम्बन को
रोम रोम जाग्रत उर कम्पित प्राण विकल परिरंभ सशंकित

अंग अंग पुलकित औ' प्रेरित
स्नेहाभय दो, उर खोलो। खोलो अवगुण्ठन खोलो।

रोमैंटिसिज़्म जीवन के नवल आकर्षण का प्रतीक है, विश्व की आत्मा का निखिल सौन्दर्य-पान उसकी प्रेरणा। किन्तु जहाँ वैयक्तिक लिप्सा शरीरगत, मांसल और भोग-विह्वल हो जाती है, वहाँ कवि विश्व-सृष्टि और जीवन का व्याख्याता न रहकर उसकी भावुकता

पूर्ण तरंगित घड़ियों का एक, स्थूल द्रष्टा मात्र रह जाता है। इस कविता में भी ऐसी ही Morbidity झलक पड़ी है। 'प्रभात फेरी' में ऐसी ही कुछ रचनाएँ और हैं। 'प्रवासी के गीत' में कवि अपेक्षाकृत अधिक जागरूक है। उसकी वाणी में निखार तो है ही, व्यञ्जना में भी व्यापकता और मर्म-स्पर्श का स्पष्ट प्रयत्न है। अगस्त १९३७ ई० में प्रकाशित उसकी एक कविता है—'धीरे बह री प्रात. समीर बुझती चिनगारी जल न उठे।' हिन्दी के गीति-काव्य को कवि की यह एक स्थायी देन है। इन पंक्तियों का लेखक कवि की इस रचना को शायद ही कभी भूल सके। ऐसी ही कुछ अभिनव अभिराम रचनाएँ 'पलाश वन' में भी मिलती हैं। 'अच्छा ही हुआ' तो इस संग्रह की अमर कविता है।

नरेन्द्र जी के प्रगतिशील कवि पर जब दृष्टि जाती है, तो ऐसा लगता है, जैसे कवि का यह प्रयत्न अभी उन्मीलनमात्र है। अन्तर की पुकार अभी उसमें फूटी नहीं, खिली नहीं, फैली नहीं। भीतर और बाहर का एकात्मबोध कवि ने नहीं पाया। जान पड़ता है, प्रगतिशीलता फैशन के रूप में ही उसने ग्रहण की है। जीवन के द्वन्द्व में लिप्त रहकर कवि जहाँ उचक नहीं पाता, उभर नहीं पाता, सत्य के अन्वेषण और जीवनव्यापी व्यापारों में जहाँ वह अपने को एक बार लिप्त करके निर्लिप्त नहीं बना सकता, वहीं उसकी वाणी सजीवता नहीं प्राप्त करती, सप्राण नहीं हो पाती। यही कारण है कि नरेन्द्र जी प्रेमानुभूति के क्षेत्र में जितने सफल हुए हैं, उतने प्रगतिशील होकर नहीं। उनका "मैं सब दिन पाषाण नहीं था"—"प्रवासी के गीत' का ३७ वाँ गायन 'प्रभातफेरी' के 'वेश्या' नामक गीत से अपेक्षाकृत अधिक स्थायी है।

प्रभातफेरी

आओ, हथकड़ियों तड़काटूं, जागो रे नतशिर बन

उन निर्जीव शून्य श्वासों में
आज फूँक दूँ लो नवजीवन,
भरदूँ उनमें तूफ़ानों का,
अगणित भूचालों का कंपन

प्रलयप्रवाहिनी हों, स्वतन्त्र हों तेरी ये साँसें बन्दी

दो हों, चाहे एक साँस हो
जीवित हो, उल्लास भरी हो,
जीवन-चिह्न बनें ये बन्धन,
साँस-साँस में स्वाभिमान हो;

क्या साँसों की गिनती जीवन ? सोचो तो भोले बन्दी

बन्दी सकल कर्म-कारण कर,
शिर नत, आँखें सूनेपन में!—
वृथा मुक्ति यों खोज रहे हो
सत्यभीत तुम शून्य गगन में!

अविनाशी की आशा मिथ्या, स्वयम् समर्थ बनो, बन्दी!

अपने सर्वसमर्थ हृदय को
भूल, शून्य में कर फैलाते,

याचक बनकर आसमान के
शक्तिमान को शीश नवाते,

अवनी अनल अनिल जल नभ के तुम ही अधिवासी, बन्दी!

जल ज्वाला भूकम्प तुम्हारे-
ही अतुलित बल के परिचायक,
आँधी औ' तूफ़ान तुम्हारे-
शक्तिमान श्वासों के वाहक,

हैं सत्तासूचक नभ-चुम्बी भूधर, ग्रह, उपग्रह बन्दी

कर प्रकाश बन्दी दीपक में
तम में तुमने किया उजाला,
जैसे वन को, वैसे मन को
फिर ईश्वर भी खोज निकाला,

सृजनहार के सृजनहार तुम, तुम ही प्रतिपालक, बन्दी

संसृति के गृह में दीपक-सा
वह उपयोगी है पर नश्वर,
उसका तो जलना-बुझना भी
मानव की इच्छा पर निर्भर,

जीवन-क्रम में ईश्वर नश्वर, केवल तुम शाश्वत बन्दी

जग है तुम हो, यहाँ नहीं वह,
हे आस्तिक ! तुम सत्य-हीन हो,

रक्त-हीन हो दीन हीन हो,
मन के भ्रम में स्वयम् लीन हो,
अपने ही मन की माया में मत भूलो, भोले

जन्म-मरण-भयभीत बन्धु क्यों!
हैं ये तो जीवन, नवजीवन!
राग तुम्हारी रुचिर कल्पना,
धर्म तुम्हारा ही प्रतिपादन!
तुम्हीं ध्येय हो जग जीवन के, उठो, बढ़ो, भूले बन्

उठो उठो, ऐ सोने सागर
नई सृष्टि को ले नव कंपन
क्षीरसिन्धु भी, बन्धु तुम्हीं में,
जिसमेंस्थित जग-जग का कारण
विश्वाधार विष्णु के पालक, तुम्हीं अशेष शेष बन्दी!

व्यक्तरूप में हो असीम तुम,
सृष्टिश्रेष्ठ! तुममें असीम है,
निबल! तुम्हारा बल तुममें है,
ज्यों तम में जग-ज्योति लीन है,
उठो सूर्य-से चीर तिमिर को, उठो, उठो, नतशिर बन्दी!

जागो, पहचानो अपने को
मानव हो, समझो निज गौरव,
अन्तस्तल की आँखें खोलो
देखो निज अतुलित बल वैभव,

अहंकार औ' स्वाधिकार—दो पृथक् पृथक् पथ हैं, बन्दी !
—'प्रभातफेरी' से]

रानीखेत की रात

शांत है पर्वत-समीरण, मौन है यह चीड़ का वन भी !
कों की घात-सी आई-गई-सी हो गई है बात,
र ज्यों आँसू पुँछे दृग, चुप हुई चुपचाप रो-रो रात,
रे निःश्वास मेरे, शांत होगा चिर-विकल मन भी,
। झंझा, फिर खड़ी दृढ़ सामने गिरि पर असित तरु-पात
। नभ ऊपर-हृदय ज्यों सह चुका आघात पर आघात
गा निस्सीम नभ-सा एक दिन यह शून्य जीवन भी !
धुला नभ, यह धुला नभ खिल रही यह चाँदनी अनमोल
अमृतकी वृष्टि, खिलती कुमुदनी-सी सृष्टि-दृग-उर खोल
? कलियों-से खुलेंगे हो हमारे मोह-बन्धन भी !
—'पलायन' से "

गीत

नादान विश्व, नासमझ हृदय
मैं मान करूँ भी तो किस पर ?
थी केवल एक करुण चितवन
छू सकी सदा जो अन्तरतम,
खिल प्रकट हुए जिसके जादू
से मेरे उर के छिपे मरम !
मेरे मस्तक की क्षणिक शिकन
को भी पढ़ सकी वही चितवन,
वह देख सकी मेरी आँखों
में धूप-छाँह का परिवर्त्तन !
इस इतने बड़े अँधेरे-से
जग में थे केवल दो लोचन
आँचल की ओट हँसे-रोये
जो मेरे सुख-दुख में प्रतिक्षण !
केवल वे ही पहचान सके
मेरी आँखों की भूख-प्यास,
उनसे न छिपाते थे रहस्य
मेरी आँखों के अश्रु-हास !
मैं आज दे रहा हूँ वाणी
जिन भावों को, लिख गीत मधुर

है उनके हित भी चिर-कृतज्ञ
उन नयनों के प्रति मेरा उर!
पर उन्हें मुँदे अब युग बीते
मैं मान करूँ भी तो किस पर!
रत्नाकर में जो रत्नदीप
हो चुके लीन, उनकी चितवन?
मैं दिखलाऊँ कैसे उनका
वह मणिधर-मोहन सम्मोहन?
कवि-वेणु रीझती थी जिस पर
थी वह मायाविनि मृगी कौन?
क्या कहूँ आज वह विगत कथा?
है उचित यही अब रहूँ मौन!
बस वही अकेली थी ऐसी
छिप सका न जिससे एक राज़!
सह भी लेती थी इसीलिए
वह मेरे सब अन्दाज़-नाज़!
उससे क्या छिपा रह सका कुछ
मन, आत्मा या पार्थिव शरीर?
हम दोनों ऐसे हिले-मिले
थे, जैसे चञ्चल जल समीर!
वह मुझे जानती थी जितना
जानेगी क्या शिशु को माता?

फिर भी अब क्या बतलाऊँ मैं
था उसका मेरा क्या नाता?
मेरी वह मायाविन न रही,
मैं मान करूँ भी तो किस पर?

—'प्रवासी के गीत'

स
* स मा प्त *
स